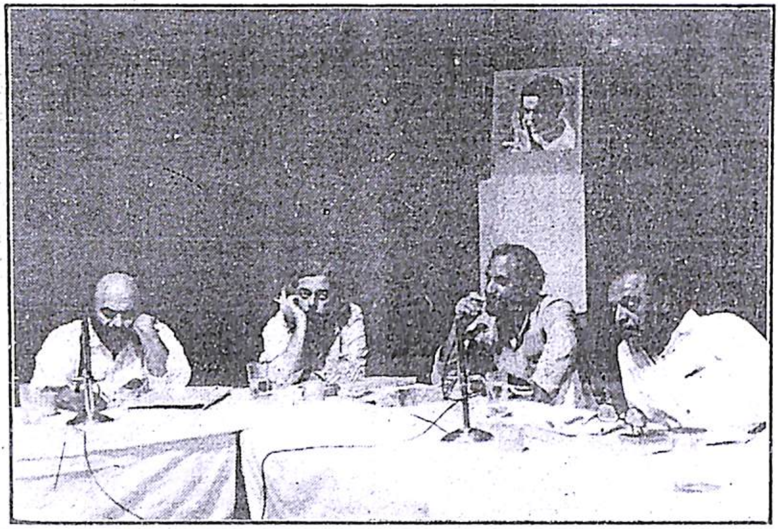


पटकथा

आगामी एक अंक

सत्यजीत राय पर एकाग्र

सत्यजीत राय का इतिहास बोध और आधुनिकता, यथार्थ सत्ता की चुनौती, सत्यजीत राय का रचना समय , सत्यजीत का सिनेमा और उससे जुड़े प्रश्नों पर श्याम बेनेगल, गोविन्द निहलानी, सईद मिर्ज़ा, केतन मेहता, प्रयाग शुक्ल, पुरुषोत्तम अग्रवाल, प्रभु जोशी, भास्कर सिन्हा, शैलेन्द्र तिवारी, विनोद रैना, प्रभुनाथ सिंह आज़मी आदि के विचार ।

मध्यप्रदेश फ़िल्म विकास निगम का प्रकाशन

पटकथा

भारतीय सिनेमा पर एकाग्र सीरिज

सम्पादक
श्रीराम तिवारी

राष्ट्रीय फिल्म विकास निगम का प्रकाशन

पटकथा

शास्त्रीय सिनेमा पर एकाग्र सीरिज

जून '92

वर्ष 5 • अंक 2 • संख्या 15 • 1992

नियामक
आनंद बर्नाड
ओ.पी. दुबे

सम्पादक
श्रीराम तिवारी

सहायक सम्पादक
सुनील मिश्र

आवरण : पटकथा के इस अंक के आवरण पर प्रयुक्त पेंटिंग्स को प्रसिद्ध कलाकार **श्री शमशाद हुसैन** ने बनाया है। रॉयल कॉलेज ऑफ लन्दन से स्नातकोत्तर शमशाद, अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त चित्रकार **श्री मकबूल फिदा हुसैन** के पुत्र हैं।

एक अंक : 20 रुपये वर्ष के 4 अंक 80 रुपये
वार्षिक ग्राहकों के लिए साधारण डाक से शुल्क 60 रुपये

सम्पर्क
मध्यप्रदेश फिल्म विकास निगम मर्यादित
ई-1/90 अरेरा कॉलोनी, भोपाल - 16 (म.प्र.)
फोन : 566908 563810 तार : फिल्मडेव
मुद्रक : नईदुनिया पब्लिकेशन्स प्रा.लि., भोपाल

इस अंक में

सिनेमा और इतिहास

[*रेने एल्लिओ* (Rene Allio), *मार्क फेरो* (Mark Ferro),
फिलिप जुतार्द (Phillippe Joutard),
इमेनुएल ले रॉय लादुरी (Emmanuel Le Roy Ladurie) *की*
फ्रेदेरिक वितो (Frederic Vitoux) *तथा*
माइकेल सिने (Michel Sineux) *से बातचीत*]

यह चर्चा मूलतः फ्रांसीसी फ़िल्मी मासिक पत्रिका पॉसितिफ (POSITIF) के अंक 189 में प्रकाशित हुई थी। मार्क फेरो का संलग्न लेख फरवरी, 1988 में नई दिल्ली में आयोजित एक सेमिनार में पढ़ा गया था। भारत में और अन्यत्र, सिनेमा तथा इतिहास के बीच के संबंध पर जो विपुल रुचि दर्शायी जा रही है उसे दृष्टिगत रखते हुए हम यह आशा करते हैं कि इन दो लेखों का प्रकाशन, जो कि एक - दूसरे के पूरक हैं, प्रासंगिक और लाभप्रद सिद्ध होगा।

फ्रेदेरिक वितो : लोगों ने कहा है कि फ्रांस ने बहुत कम ऐतिहासिक फ़िल्मों का निर्माण किया है, किंतु बहुत सारी वेशभूषा वाली फ़िल्में (Costume films) बनायी गयी हैं, उदाहरणार्थ, नेपोलियन पर बनायी गयी फ़िल्में। स्तेंदाल (Stendhal) और बाल्ज़ाक (Balzac) के अधिकांश उपन्यासों पर और अलेक्ज़ेंद्र दुमा (Alexandre Dumas) या मार्क्विस दे आंगेस (Marquise des Anges) की कहानियों पर फ़िल्में बनायी जा रही हैं।

संभवतः इन 'वेशभूषा वाली फ़िल्मों' के लिए, जो कि ऐतिहासिक फ़िल्में नहीं हैं, एक विशेष वर्ग होना चाहिए। ऐतिहासिक फ़िल्म वह फ़िल्म होगी, जिसमें स्वयं इतिहास फ़िल्म का विषय हो, न कि किसी कथावस्तु की पृष्ठभूमि मात्र हो, जिसे किसी भी अन्य संदर्भ में पक्षांतरित किया जा सकता हो।

इमेनुएल ले रॉय लादुरीः रोमर (Rohmer) की फ़िल्म **ला मार्क्विस द'ओ** (La Marquise d'o) को एक सीमावर्ती मामला समझा जा सकता है, वह एक महान सफल फ़िल्म है, जो मात्र वेशभूषा वाली फ़िल्म नहीं है, वह एक अनुचिंतन है जिसमें कला का उपयोग, जैसी कि वह अठारहवीं शताब्दी के अन्त में और उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ में विद्यमान थी, एक आरंभ - बिन्दु के रूप में किया गया है।यह फ़िल्म एक उत्कृष्ट साहित्यिक रचना पर आधारित है जिसमें रुचिकर ऐतिहासिक समस्याएँ उपस्थित की गयी हैं। उदाहरणार्थ, विवरण संबंधी संपूर्ण चर्चा, जिसमें स्त्री, मार्क्विस शामिल नहीं है, पूर्णतः उसके माता-पिता और विवाह के इच्छुक पुरूष के बीच होती है। वह एक पुराने ढ़ंग के परिवार की प्रतिमा है - संभवतः किंचित अतिपायोक्तिपूर्ण, तथापि सच्ची - जहाँ पुरानी पीढ़ी हर चीज़ का, यहाँ तक कि एक युवा विधवा के भविष्य का भी, जो कि स्वयं एक माता है विनिश्चयन करती है। ऐतिहासिक फ़िल्म का उद्देश्य है औसत दर्शक को, जो कि इतिहास की अधिक जानकारी नहीं रखता, प्राचीन समाज विज्ञान के विषय में कुछ प्रत्यय देना, और फ़िल्म **ला मार्क्विस द' ओ** यह कार्य भलीभांति करती है।

रेने एल्लिओ : मैं नहीं समझता कि हम वेशभूषा वाली फ़िल्मों, जो कि कथाओं को भूतकाल में रखती हैं, और आपके द्वारा यथा परिभाषित ऐतिहासिक सिनेमा के बीच कोई कठोर सीमांकन कर सकते हैं। यह बात बिलकुल स्पष्ट है कि सभी फ़िल्में ठीक उसी तरह ऐतिहासिक होती हैं जिस तरह कोई व्यक्ति यह कह सकता है सभी फ़िल्में राजनैतिक होती हैं। प्रत्येक फ़िल्म का निहितार्थ यह होता है कि वर्णनकर्ता ने उस पर्यावरण का, जिसमें उसके चरित्र विचरण करते हैं, तथ्यों का चरित्रों के हाव- भावों का, चरित्रों के बीच के संबंधों का, चरित्रों की मानसिकताओं का अवलोकन किया है। फ़िल्म का रूप इतिहास को उन्मीलित करने जैसा है, चाहे वह वर्तमान काल में हो या भूतकाल में हो।

जब कथा में भूतकाल के रूपों का उपयोग किया जाता है, उदाहरणार्थ, जब ब्रितानी में विद्रोह को चित्रित करने के लिए कोई व्यक्ति किसी कथा का आविष्कार करता हैया जब कोई व्यक्ति **मीपासां** की किसी कथा का पक्षांतरण करता है तो निर्देशक के सामने वही समस्या आ खड़ी होती है: उसे भूतकाल का चित्रण वृत्तवर्णन के एक ऐसे रूप के माध्यम से करना होता है, जिसमें कि वे घटनाएँ, जो कि मूलतः ऐतिहासिक या प्रलेखीय होती हैं, एक साथ मिलाकर चलचित्रिकीय तथ्यों के रूप में प्रस्तुत की जाती हैं, और इस समस्या के प्रति निर्देशक की अभिवृत्ति के कारण ही हम वृत्तवर्णन या निर्देशन से यहजान पाते हैं कि फ़िल्म कोई कथा (फिक्शन) है या किसी प्रसिद्ध उपन्यास का रूपान्तर है या कोई

ऐतिहासिक फ़िल्म है।

मार्क फेरो : उस स्तर पर ऐतिहासिक फ़िल्म के बारे में कुछ भी विनिर्दिष्ट नहीं रह जाता। यही प्रवर्ग सामान्य इतिहास पर, ऐतिहासिक ग्रंथों पर लागू होते हैं : वहाँ वेशभूषा वाली फ़िल्म का समतुल्य होता है, जिसका महत्व कभी-कभी नगण्य होता है। किंतु ऐसी रचनाएँ भी होती हैं जो कि **वेशभूषाओं** का उपयोग नहीं करतीं। वेशभूषाओं और वेशभूषाओं के अभाव के बीच का विरोध प्रासंगिक नहीं होता। मैं एल्लिओ से सहमत हूँ और वस्तुतः कुछ आगे बढ़कर यह भी कहूँगा कि ऐतिहासिक फ़िल्मों या कहानियों को अभिज्ञात करने के लिए सज्जा या ऐसी ही किसी वस्तु के मात्र विरोध की अपेक्षा एक अधिक मान्य निष्कर्ष है यह विनिश्चित करना कि क्या उनमें स्वयं इतिहास को एक समय के रूप में प्रतिपादित किया जाता है और क्या यह समस्या हमारे समय से जुड़ी हुई है ?

रेने एल्लिओ : वस्तुतः *वेशभूषावाला नाटक* (costume drama) अठारहवीं शताब्दी से अधिक पहले का नहीं है और कथा को सुखद बनाने के लिए तथा पलायनवाद को सुविधाजनक बनाने के लिए वह अजनबीपन का उपयोग करता है। उन्नीसवीं शताब्दी के सीरियलों में उसे सर्वोत्तम रूप में देखा जा सकता है। वेशभूषाओं और इतिहास के बीच का विरोध ऐतिहासिकता, और विगत वास्तविकता का सूचक होने के बजाय वास्तविकता को गायब करने का एक ढंग अधिक है।

मार्क फेरो : किंतु **ले रॉय लादुरी** का यह कहना सही था कि कतिपय वेशभूषा वाली फ़िल्में भी ऐसी ऐतिहासिक जानकारी को प्रकट कर सकती हैं, जो कि सामान्यतः ज्ञात नहीं होती।

फिलिप जुतार्द : बहरहाल जिस इतिहासकार को ऐतिहासिक सिनेमा में दिलचस्पी हो उसे, जहाँ वेशभूषा वाले नाटकों का संबंध हो वहाँ भी विभेद नहीं करना चाहिए क्योंकि समस्त इतिहास का संदर्भ - बिन्दु वर्तमान है। कोई वेशभूषा वाला नाटक भी किसी समकालीन पुराण का, उदाहरणार्थ, उस बिम्ब का, जो कि **साचा गुइत्री** (Sacha Guitry) और फ्रांसीसी लोगों के किसी विशिष्ट वर्ग के लोगों के मन में किसी बीते हुए युग के बारे में हो, संकेतक होता है। कोई विभेद स्थापित करने का अर्थ कोई मानवीय दृष्टिकोण अपनाना होगा, जिसमें इतिहास - लेखक की कोई दिलचस्पी नहीं होती।

इमेनुएल ले रॉय लादुरी : मैंने फ़िल्म *थ्री मस्के टियर्स* के अनेक पूरी तरह से भुला दिए गये संस्करण देखे हैं। स्पष्ट है कि वे ऐतिहासिक फिल्में नहीं थीं। वे वेशभूषा वाली फ़िल्मों से बिलकुल अलग थीं और उनका एकमात्र उद्देश्य सफलता की विभिन्न मात्राओं के साथ समकालीन संवेदन ग्राहिता को अपील करना था। कोई फ़िल्म तब ऐतिहासिक होती है जब वह सामान्यतः वेशभूषाओं का उपयोग करते हुए स्वयं को वर्तमान से दूर रखती है, ताकि वह हमें किसी भिन्न काल में, प्रकल्पित भूतकाल में ले जा सके, किंतु जिसका संभवतः भूतकाल से जैसा कि वह वस्तुतः था, कोई भी संबंध नहीं होता। लेकिन

वह एक अन्य प्रश्न है।

रेने एल्लिओ : मैं जुतार्द से सहमत हूँ। फ्रांकोई रेग्नल्त (Francois Regnault) ने ऐतिहासिक फ़िल्म पर एक बहुत दिलचस्प लेख लिखा है। वे कहते हैं कि वेशभूषा वाली फ़िल्म में पुरातत्ववेत्ता हमेशा उपस्थित होता है। लोकप्रिय सिनेमा अतीत के चरित्रों के ऐश्वर्य और वैभव का उपयोग करते हुए वर्तमान का एक बिम्ब प्रस्तुत करता है, जिससे कि वे समकालीन समस्याएँ, जिन्हें ऐसे सिनेमा में लिया जाता है, वही आडंबर और तड़क-भड़क ग्रहण कर लेती है। व्यक्ति जो कुछ भी करे फिर भी वह वर्तमान में लौट आता है।

फिलिप जुतार्द : यहाँ से आरम्भ करते हुए मैं निश्चय ही यह जानना चाहूँगा कि फ्रांस में कतिपय फ़िल्म निर्देशक आज इतिहास में इतनी दिलचस्पी क्यों ले रहे हैं। हम इतिहासकार इस प्रवृत्ति को समझ नहीं पा रहे हैं।

रेने एल्लिओ : इसमें अनेक कारणों का संयोग है। व्यक्तिगत कारणों की एक भूमिका होती है। यदि आप स्वयं इतिहासकार बन गये हैं तो ऐसा इसलिए नहीं है कि किसी विशिष्ट क्षण में आपने इतिहास की समस्या का युक्तियुक्तकरण किया था। वह पूर्णतः व्यक्तिगत कारणों से हुआ, जो कि इच्छा से संबंधित थे। फ़िल्म - निर्माताओं के मामले में भी ऐसा ही होता है, और ऐतिहासिक फ़िल्मों के निर्माता के मामले में तो ऐसा अधिकतर होता है। यदि कोई व्यक्ति वैचारिक कारणों से वर्तमान की समस्याओं के प्रति सचेत होने के कारण ऐतिहासिक फ़िल्में बनाता है तो वह व्यक्तिगत कारणों से भी उन्हें बनाता है। मैं इस व्यक्तिनिष्ठ कारण को बहुत महत्व देता हूँ। मुझे व्यक्तिगत रूप से वस्तुओं में अवशेषों में आवेशपूर्ण रुचि रही हैं।

पियरे एन्ड पॉल नामक फ़िल्म में मैं एक ऐसे चरित्र की कहानी कहता हूँ, जो कि 1916 में **मार्सेलीस** में एक धूल भरी ढलान के तल में एक छिद्र में एक चीथड़ा छिपाया करता था। हर सुबह उस ढलान से उतरने के बाद वह ट्रामवे पकड़ने के पहले उस चीथड़े से अपने जूते चमकाया करता था। यह मनुष्य मेरा पिता था। वह छिद्र और वह दीवार आज भी विद्यामान है। वे एक बीते हुए क्षण के चिन्ह हैं और उन्हें उस क्षण के पुनर्निमाण से अलग नहीं किया जा सकता । वे मुझे मृत्यु के दृग्विषय के परे अतीत के जीवन में लौटा ले जाते हैं।

इतिहास के प्रति मनुष्य में जब रुचि होती है। वह ऐसी ही होती हैं। किंतु, इसके विपरीत, यदि किसी मनुष्य के मन में वर्तमान की समस्याओं का दखल न हो तो वह कोई ऐतिहासिक या अतीत को लेकर कोई फ़िल्म नहीं बना सकता।

माइकेल सिने : आपने एक बार कहा था कि फ़िल्म **लेस कमिसार्दस** (Les Camisards) बनाते समय आप यह जानते थे कि आप सिनेमा में अपनी सांस्कृतिक विरासत में डुबकी लगाने के प्रचलित फैशन के विरुद्ध जा रहे थे। उस समय आप एक दिलचस्प अपवाद



थे।

रेने एल्तिओ : मैनें फ़िल्म लेस कमसार्दस 1970 में बनायी । उस समय मैं वस्तुतः एक अपवाद था। किंतु यह कह चूकने पर मैं, नहीं समझता कि तावर्निए (Taverr ier) और मेरे अलावा ऐतिहासिक फिल्म में वास्तविक रुचि दर्शाने वाले अनेक अन्य फिल्म-निर्माता हुए हैं।

फ्रेदेरिक वितो : ऐसा प्रतीत होता है कि फ्रांस में ऐतिहासिक फ़िल्म मुनाफा प्राप्त करने की दृष्टि से शापग्रस्त है। लोग यह सोचते हैं कि उन्हें व्यावसायिक दृष्टि से लाभ नहीं होगा। इसलिए यह आश्चर्य की बात ही है कि **बर्त्रां तावर्निए** की दूसरी फिल्म के **ला फेते** कोमेंस (Que La fete Commence) का जनता ने अच्छा स्वागत किया।

रेने एल्लिओ : कोई अभिशाप नहीं है। बात सिर्फ इतनी है कि सिनेमा में किसी विशिष्ट रूप (फ़ॉर्म) की प्रबलता होती है और किसी विशिष्ट प्रकार की फ़िल्म के निर्माण के लिए वित्त प्रदान करने की एक दुस्संशोध्य प्रणाली होती है, जिसमें इस बात पर विचार किया जाता है कि फ़िल्म का प्रसार कितना होगा और उससे लाभ कितना होगा यह प्रक्रिया बढ़ती ही जाती है और कथा के प्रति दर्शकों की प्रवृत्ति को अनुकूलित करती है, जिसके परिणाम स्वरूप उत्पाद और उपभोक्ता के बीच का आदान-प्रदान अत्यधिक निष्क्रिय हो जाता है और उसकी तुलना व्यवसाय वस्तु के उपभोग से की जा सकती है। व्यवसाय वस्तु में वे लक्षण होते हैं, जिन्हें व्यावसायी सफलता के घटकों के रूप में पहचानने लगता है और उनकी अनुकृतियाँ बनाने से नहीं डरता, क्योंकि उसे विश्वास

होता है कि वे जोखिम से मुक्त होती हैं। ये लक्षण कलात्मक रूप होते हैं, जो कि वास्तविकता को बोधगम्य बनाने के ढंग होते हैं। वे फ़िल्मी सितारे हो सकते हैं, नाटकीय कला के केन्द्रीय चरित्रों में, नाटकों के, अभिनेताओं के, जो कि उनका निर्वचन करते हैं, एक निश्चित प्रकार हो सकते हैं और वे अनेक बाजार-मूल्यों के रूप में होते हैं। फ़िल्मों में हमेशा एक केन्द्रीय नायक होता है जिसे कि आपवादिक या दुर्लभ व्यक्ति के रूप में प्रस्तुत किया जाता है, जिसके साथ हमेशा असाधारण घटनाएँ होती हैं, भले ही क्रिया एक साधरण विश्व में हो रही हो। जिस ढंग से दर्शक जो कुछ हो रहा होता है उससे अपना तादात्म्य स्थापित करता हैं उस ढंग के कारण यह चरित्र दर्शक की विरेचन (कैथार्सिस) के लिए संवेग और संवेदन प्रदान करता है, क्योंकि सब कुछ व्यक्तिनिष्ट स्तर पर घटित होता है। जब कभी कोई व्यक्ति इतिहास को विस्तारपूर्वक कहना चाहता है (जब तक कि वह इस पृथ्वी के उन महान व्यक्तियों को न लेता हो जो कि स्वयं ही इतिहास का निर्माण करते हैं) तब-तब उसका सामना एक ऐसे नये रूप से होता है, जिसमें वे रूढ़ प्ररूप (स्टिरियो टाइप) उपयुक्त नहीं होते, जो कि पारंपरिक रूप से किसी फ़िल्म की वित्तीय सफलता सुनिश्चित करते हैं।

उदाहरणार्थ, यदि फ़िल्म में कोई केन्द्रीय चरित्र न हो तो उसमें कोई स्टार नहीं हो सकता, इसलिए वैकल्पिक वित्त व्यवस्था ढूँढ़नी होती है। यदि फ़िल्म किसी लोकप्रिय चरित्र के इर्द-गिर्द घूमती हो तो अधिक अभिनेता उस भूमिका को करना नहीं चाहेंगे। प्रभुतासंपन्न वर्गों के लोगों की भूमिका को अभिनीत करना आसान होता है। जन साधारण के किसी व्यक्ति की भूमिका को अभिनीत करना कठिन होता है।

इमेनुएल ले रॉय लादुरी : कभी-कभी मुझे अचम्भा होता है कि इतालवी लोगों और अंग्रेजों में हमारी अपेक्षा अधिक ऐतिहासिक उदारता तो नहीं है। **डेथ इन वेनिस**, **एमरकॉर्ड**, **दि मेसेन्जर**, **सेन्सो** और **दि चीता** जैसी फ़िल्मों को ही लीजिए, जिनका संबंध शासक वर्गों से है, किन्तु महान व्यक्तियों से नहीं है, और जिन्हें कलाकृत्तियाँ माना जा सकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि अब कुछ समय से फ्रांस में एक विशिष्ट **जेन्सेनिज्म** ऐसी फ़िल्मों के निर्माण को रोकता रहा है। तथापि, मैं यह कहना चाहूँगा कि इतिहासकार का कार्य बहुधा सिनेमा द्वारा प्रभावित होता है। व्यक्तिगत रूप से उन अनेक विषयों ने, जो कि मुझे अपने लेखन में रुचिकर लगे हैं, आकर्षित न किया होता, यदि मैं इस धारणा को लेकर न चला होता कि मैं एक फ़िल्म लिख रहा हूँ। संभवतः मेरे पास कोई फ़िल्म बनाने के लिए 5,000 लाख फ्रैंक नहीं हैं, किंतु 100 लाख फ्रैंक देकर कोई प्रकाशक मुझे अपने स्वयं के लिए सिनेमा बनाने की अनुमति देता है।

माइकेल सिने : क्या यह दो तरफ आदान-प्रदान नहीं है ? क्या फ़िल्म - निर्माता इतिहास के विज्ञान के विकास और, नये स्रोतों की खोज में इतिहासकार की लिप्तता और उपेक्षित प्रलेखों के प्रचार के लिए इतिहासकार के प्रयासों द्वारा आकर्षित नहीं हुए हैं ?

रेने एल्लिओ : इसमें कोई संदेह नहीं है कि प्राप्त रचनाओं में इन प्रलेखों का प्रकाशन एक महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करता है।

मार्क फेरो : मैं धन की भूमिका पर लौटना चाहूंगा । स्पष्ट है कि निर्माता ऐसी फ़िल्मों द्वारा प्रलोभित नहीं होते जो कि कतिपय प्रतिमानों के अनुरूप नहीं होतीं। किन्तु यह भी एक तथ्य है कि ऐतिहासिक फ़िल्म, जो कि अतीत की वास्तविकता का विश्लेषण करती है और वर्तमान को समझने में हमारी सहायता करती है, जनता को प्रसन्न नहीं करती, क्योंकि वह एक सामाजिक व्यवस्था को खंडित कर देती है। उदाहरणार्थ, यू.एस.ए. में लोग द्वितीय विश्व युद्ध पर बनी फ़िल्मों में यह देखना पसंद नहीं करते कि काले लोग गोरे लोगों की हत्या कर रहे हैं। लगभग 1940 और 1950 के बीच की अवधि में बनी 200 या लगभग इतनी ही फ़िल्मों में हमेशा काले लोग होते हैं। किन्तु वे हमेशा रसोइए वगैरह होते हैं। और यह कभी नहीं दिखाया जाता कि वे जर्मनी या इटालियनों की हत्या कर रहे हैं। हालाँकि हम यह जानते हैं कि वे युद्ध की ठीक कमाना अग्रिम पक्तियों में थे। फिल्म निर्माता धन चाहता है और जनता को प्रसन्न करना चाहता हैं। ये दोनों ही अभिप्राय एक ही प्रणाली से ताल्लुक रखते हैं।

फिलिप जुतार्द : यदि हम ऐतिहासिक फिल्मों और वेशभूषावाले नाटक के बीच के विभेद को स्वीकार कर भी लें तो भी हम सभी ऐतिहासिक निर्मितियों को ख़ारिज नहीं कर सकते, क्योंकि एल्लिओ द्वारा बताई गई कठिनाइयाँ इस तथ्य से उत्पन्न होती हैं कि हाई स्कूल की पाठ्य पुस्तकों द्वारा लोकप्रियकृत बिम्ब पारंपरिक ऐतिहासिक फ़िल्मों द्वारा प्रचलित होते हैं और परिणामस्वरूप किसी भिन्न प्रकार की ऐतिहासिक फ़िल्म को पूर्ण होने से और जीविष्णु होने से रोकते हैं। क्या हमें किसी दूरस्थ अतीत का निर्देश करने वाली फिल्मों (जैसे कि फ़िल्म लेस कमिसार्दस) और आज भी स्मरण किये जाने वाले किसी अतीत से संबंधित फ़िल्मों (जैसे कि द्वितीय विश्वयुद्ध पर बनी फ़िल्मों) के बीच विभेद नहीं करना चाहिए?

फ्रेदरिक वितो : जहाँ तक हाल ही के अतीत का संबंध है ऐतिहासिक फ़िल्मों के एक सम्पूर्ण प्रवर्ग की बहुत मांग है: वह है डाक्यूमेन्ट्री फ़िल्मों का प्रवर्ग। निर्देशक प्रलेखों का चयन करता है, उनका अध्ययन करता है और उनका संपादन करता है। विचलन - बिन्दु प्रामाणिक होता है। किन्तु यदि कोई फ़िल्म - निर्माता किसी दूरस्थ अतीत का चित्रण ऐसे ढंग से करना चाहता है, जिसे कि स्थूलतः यतार्थवादी ढंग कहा जा सकता है, और अतीत का पुनर्गठन करना चाहता है तो क्या वह सिनेमा के सर्वाधिकारी स्वरूप को दृष्टिगत रखते हुए अपनी परियोजना का औचित्य प्रतिपादित कर सकता है?

रेने एल्लिओ : जी नहीं। प्राथमिक रूप से इसलिए क्योंकि फ़िल्म सब कुछ प्रकट नहीं करती।

फ्रेदेरिक वितो : किन्तु फ़िल्म में एक समग्रता होती है आइए मांतेलू (mantaillou) का उदाहरण लें। ले रॉय लादुरी, आपने यह कहा कि आप अपनी पुस्तक को फ़िल्म में रूपांतरित करना चाहेंगे। क्या आप यह सोचते हैं कि यदि आपके पास सभी भौतिक साधन होते तो आपने बिना अन्तराल के, बिना त्रुटि के मांतेलू के एक बिम्ब को पुनराविष्कृत किया होता ?

इमेनुएल ले रॉय लादुरी : निश्चय ही एक अपूर्ण विम्ब का पुनराविष्कार किया होता। किन्तु मांतेलू के ऐसे पर्याप्त पहलू हैं जिन्हें लेकर एक ऐसी फ़िल्म बनायी जा सकती है, जो कि दर्शक की संवेदन ग्राहिता की, जिसमें श्रृंगारिक संवेदनग्राहिता भी शामिल है, अपील करे और जो जीवन के एक कतिपय ढंग का, एक कतिपय मानसिकता का पुनर्गठन करे। किन्तु मांतेलू एक चरम मामला है, क्योंकि कोई ऐसा प्रलेख पाना दुर्लभ होता है जो कि टेपरेकॉर्डर से मिलता जुलता हो। जबकि एल्लिओ में अधिक खंडित विषयों को पर्दे पर लाने का और दर्शकों को बक्शे बिना एक कतिपय 'जेन्सेनिज्म' के साथ यह कार्य करने का साहस था।

रेने एल्लिओ : मैं लेस कमिसार्दस को जेन्सेनिस्ट नहीं कहूंगा।

फ्रेदेरिक वितो : लेस कमिसार्दस के चरित्र आधुनिक फ्रेंच भाषा बोलते हैं।

रेने एल्लिओ : आज यह आलोचना की जा सकती है। इतिहास के बारे में फ़िल्म उस ढंग से, जो कि मई 1968 से प्रचलन में आया है, और ब्रेख्त ने इस विषय पर जो कुछ लिखा है उस पर विचार करते हुए बोलती है। यह वह ढंग है जिस ढंग से समकालीन सिद्धांत किसी लोकप्रिय युद्ध को चित्रित करेगा, किन्तु यह उस ढंग का मात्र एक पहलू है जिसे लेकर मैं चला। मैंने विशुद्धतः व्यक्तिगत कारण में से फ़िल्म लेस कमिसार्दस भी बनायी। मैं उन खेतों में वापस जाकर खेलना चाहता था जहाँ मैं एक शिशु के रूप में खेला करता था, और यह कारण कम से कम उतना ही महत्वपूर्ण है जितने महत्वपूर्ण अन्य कारण हैं। यह कारण भी है कि मैं ब्यौरों पर उन्माद की हद तक ध्यान देता हूँ। तथापि, इसके साथ ही मैंने इस बात को नहीं समझा कि केन्द्रीय प्राधिकर के विरूद्ध इस स्वतंत्रता संग्राम के अधिक निष्ठापूर्ण चित्रण में मुझमें स्वयं सेवेनोलों के तत्व का अभाव था। यदि मैं फ़िल्म लेस कमिसार्दस फिर से बनाऊँ तो मैं कथा की सरंचना में परिवर्तन नहीं करूंगा, किन्तु इस तथ्य को बदले बिना कि कमिसाद लोग बाइबिल से उदाहरण देते समय स्वयं को फ्रेंच भाषा में अभिव्यक्त करते हैं, ओस्सितान भाषा का उपयोग क्षैतिज संचार की भाषा के रूप में करूंगा। मैं ठीक वही करूंगा जो मैंने पिएरे रिविएरे के लिए किया है। मैं सेवेनोलों की भूमिका के लिए सेवेनोलों को ढूंढूंगा। छह वर्ष पूर्व मैंने इसे एक जोखिम समझा होता, और इसमें कोई संदेह नहीं कि ऐसा करने के लिए मैं राजनैतिक दृष्टि से पर्याप्त परिपक्व था।

फिलिप जुतार्द : आपने फ़िल्म - निर्माता जिसे कि चुनना पड़ता है, और इतिहासकार के बीच एक कतिपय विरोध बताया था। किन्तु हर किसी को चुनना पड़ता है। कोई भी व्यक्ति, वास्तविक की समग्रता को पुनर्गठित करने में सफल नहीं होता। तथापि एक और चीज़ है, जो कि फ़िल्म - निर्माता और इतिहासकार के मामले में सामान्य होती है। उन्हें स्वयं की बात एक अपेक्षाकृत विशाल जन समूह को समझानी होती है। मैं संभवतः एक कतिपय शास्त्रीय परम्परा के विरुद्ध जा रहा हूँ। किन्तु मैं ले रॉय लादुरी की पुस्तक मांतलू में जो बात विशेष विशिष्टतः रुचिकर पाता हूँ वह यह है कि उन्होंने हमारी अच्छे प्रोफ़ेसरों द्वारा उन पर ***लोकप्रियकरण*** में लिप्त होने का आरोप लगाये जाने का जोखिम उठाया है। यह स्पष्ट है कि यदि एल्लिओ ने **ओस्सितान** भाषा का उपयोग किया होता तो फ़िल्म में सब - टाइटिलें देनी पड़तीं।

मार्क फेरो : मेरे विचार से हम कार्य - कारण तर्क वाले निकर्षों के एक कतिपय समुच्चय को स्थापित करने के बिलकुल करीब हैं, जिनके सहारे किसी पुनर्गठन का मूल्यांकन किया जा सकेगा। उदाहरणार्थ, यह निश्चित है कि व्यवसायी अभिनेताओं के बजाय अनामक लोगों को लेना प्रगति का सूचक है, सेवेनोल लोगों और उस काल की भाषा का चुनाव हमें अतीत की वास्तविकता के निकट लाता है। किन्तु इस मामले में पुनर्गठन केवल इसलिए संभव है क्योंकि एक श्रुति परम्परा विद्यमान है, अर्थात् आज भी ऐसे लोग जीवित हैं जो कि हमें **कमिसार्द** लोगों के बारे में बता सकते हैं और इसलिए वे लोग अतीत के साथ परोक्षतः हमारा संपर्क स्थापित कर सकते हैं किन्तु यदि विषय प्राचीन रोम हो तो क्या हम पुनर्गठन की बात कर सकते हैं ? यह इतना सत्य है कि कतिपय निर्देशक इस दूरस्थ अतीत का उपयोग अतीत का आह्वान करने के लिए नहीं, बल्कि भविष्य का आह्वान करने के लिए करते हैं, जैसा कि **फेलिनी सतीरिकां** (Satyricon) में करते हैं।

इमेनुएल ले रॉय लादुरी : आइए हम **लेस कमिसार्दस** की ओर लौटें। जो कोई भी व्यक्ति विषय को भलीभांति जानता है वह यह देख सकता है कि फ़िल्म कैसी बनायी गयी है। मैं नहीं समझता कि ओस्सितान भाषा के उपयोग से कोई बड़ा फर्क पड़ता है। किंतु **कमिसार्द** जर्नलों उसे प्रामाणिकता और एक मूलभूत अनभिविन्यास प्रदान करते हैं। जहाँ तक साधारण लोगों अर्थात् **कमिसार्दों** के चित्रण का सम्बन्ध है, मेरा यह विचार है कि फ़िल्म में उनका चित्रण अच्छा हुआ है। अभिजात्य - वर्ग के चित्रण के बारे में मेरे कुछ आक्षेप हैं, गौण **गास्कन** अभिजात्य - वर्ग ऐसी भाषा बोलता है, जो कि सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी के पैरिसीय (Pairsian) ग्रंथों से ली गई है। इसलिए कुछ विसंगति है।

रेने एल्लिओ : ऐसा जानबूझकर किया गया था। वह ऐसी भाषा के ज़रिए वर्सेलीस (Versailles) का चित्रण करने का एक प्रयास था।

इमेनुएल ले रॉय लादुरी : जहाँ तक सज्जा का प्रश्न है, आदर्श यह हुआ होता कि ऐसे गाँवों को ढूँढ़ा जाता, जहाँ लोग आज भी वैसे ही रहते हैं जैसे कि सत्रहवीं शताब्दी में रहते थे। संभवतः स्पेन में ऐसे गांवों को ढूंढ़ा जाता, जबकि हमें यहां ऐसा लगता है कि वह एक पुराना उजाड़ सेवेने गांव है, जिसमें भंग्नावशेषों को स्पष्टतः देखा जा सकता है।

माइकेल सिने : जिन परिस्थितियों में ऐतिहासिक फ़िल्में निर्मित की जाती हैं और जो स्थितियाँ कथात्मक रूप के चुनाव को विनिश्चित करती हैं उन स्थितियों के बारे में चर्चा करते हुए फेरो कहते हैं कि वे ऐसी फ़िल्मों को पसन्द करते हैं जिनमें केन्द्रीय चरित्र सामूहिक सत्ता होता है। किन्तु क्या रोसी (Rosi) जैसे निर्देशकों ने यह साबित नहीं किया है कि ऐतिहासिक फ़िल्म एक मुख्य चरित्र को लेकर बनायी जा सकती है और यह कि क्या जिस ढंग से इस मुख्य चरित्र का निर्वचन किया जाता है। (किसी बड़े स्टार और परिणामतः विशाल निर्माण- मूल्यों के साथ) उस ढंग के बावजूद प्रामाणिकता के निकष को पूरा किया जा सकता है।

रेने एल्लिओ : उस मामले में *फ्रेंच सिनेमा* की तुलना में *इतालवी सिनेमा* की विशिष्टता की बात कहनी होगी। अधिकांश इतालवी निर्देशक राजनीतिक दृष्टि से प्रतिबद्ध है और उनमें इतिहास का एक बोध है। कुछ अभिनेता भी ऐसे ही हैं। उदाहरणार्थ गियां मारिया वोलोंते (Gian Maria Volonte) जनता के साथ उनके संबंध के कारण और एक कतिपय प्रकार के सिनेमा से उनकी प्रतिबद्धता के कारण इसे संभव बना देते हैं। मुझे संदेह है कि हम फ्रांस में इस प्रकार की घटना पा सकेंगे, जहाँ हर चीज़ - औद्योगिक और व्यावसायिक पेरिस में संकेन्द्रित है और आंगिक दृष्टि से, प्रचलित नाटकीय ढंग से जुड़ी हुई है। वास्तविक जीवन अन्यत्र है, पेरिस में नहीं है, और वह फ्रेंच सिनेमा में भी विद्यमान नहीं है, क्योंकि फ्रेंच सिनेमा पेरिस का सिनेमा है।

माइकेल सिने : हॉलीवुड की सुपर प्रोडक्शन परम्परा में बनी फ़िल्मों के बारे में आप क्या कहेंगे, जिनमें किसी मुख्य भूमिका का निर्वचन किसी महान अभिनेता द्वारा किया जाता है, किन्तु प्रतिपादन नकारात्मक रीति से किया जाता है, जैसा कि पैटन में हुआ है?

रेने एल्लिओः अब आप एक अन्य प्रकार के सिनेमा की बात कर रहे हैं, जिसकी भी उसकी अपनी विशिष्टता है, और वह है अमरीकी सिनेमा, जो शेष विश्व को वृत्त वर्णन का प्रभावी प्रतिमान प्रदान करता है, किन्तु जो, इसके बावजूद, एक राष्ट्रीय संस्कृति से बंधा हुआ है। अन्य देशों का सिनेमा अमरीकी प्रतिमान का पुनर्निर्माण करता है, क्योंकि वह व्यवसाय की दृष्टि से अच्छा प्रतीत होता है, किन्तु इस प्रक्रिया में वह उसमें सांस्कृतिक अर्थ में जो कुछ विशिष्ट और राष्ट्रीय पहलू होते हैं उन पहलुओं को खो देता है।

मार्क फेरोः मैं आवश्यकतः उन फ़िल्मों को अधिमान नहीं देता जिनमें सामूहिक नायक होते है। मेरे कहने का अर्थ यह है कि निर्माता से यह कहना साहसपूर्ण कार्य है कि फिल्म में कोई मुख्य नायक नहीं होगा,और जनता को कोई मुख्य नायक देना भी उतना ही

साहसपूर्ण कार्य है। फ़िल्म पैटन (pattan) पर लौटते हुये मेरा यह विचार है कि यू.एस.ए. में पिछले दशक से जनता राष्ट्रीय इतिहास में मानकों पर प्रश्न उठाने लगी है। 1950 के दशक के आरंभ में फ़िल्म फ्रॉम हियर टु इटर्निटी (From Here to Eternity) सैन्य-अनुशासन की आलोचना करने लगी और धीरे-धीरे यह एक लाभजनक फ़ैशन बन गया।

रेने एल्लिओ: यदि हम अतीत में लौटें तो अमरीकी सिनेमा के नीचे क्या है? वहां हम शेक्सपीयर और एंग्लो-सैक्सन उपन्यास की यथार्थवादी परम्परा को पाते है। और वे हमारे सिनेमा के नीचे के है? वहां हमारा शास्त्रीय रंगमंच उस रूप में है जो रूप उसे कोमेदी फ्रांस (Comedie France) द्वारा अनुरक्षित परम्पराओं द्वारा आजतक दिया गया है। एक ओर वहां, यथार्थ का, संवेग का नाटक है, जहां मानव शरीर,जीवन,मृत्यु तथा शक्ति मूलभूत तत्व है। जो चरित्र शक्ति का प्रतिनिधित्व करता है उसे हमेशा लोकप्रिय चरित्र के संबंध में रखा गया है,भले ही लोकप्रिय चरित्र बहुधा गौण होता है, किन्तु वैसा गौण नहीं होता जैसा कि फ्रेंच नाटकीय परम्परा में होता है, जहाँ लोकप्रिय चरित्र का उपहास किया जाता है, क्योंकि वह साधारण लोगों में से आता है। दूसरी ओर, हमारी संस्कृति में, हमारा शास्त्रीय रंगमंच है, जो कि थियात्र दु बुलेवार्द (Theatre du boulevard) की तुच्छता के चलते ऊसर बन गया है। हमारे सिनेमा की परम्परा थियात्र दु बुलेवार्द की है, जो कि संवेग की, जीवन की, मृत्यु की या शक्ति की परम्परा नहीं है। वह नफ़ासत के साथ बोलने और ऐहिक संबंध का रंगमंच है।

इमेनुएल ले रॉय लादुरी: मैं आपको एक उदाहरण देना चाहूंगा: वह है मध्य युगों के पुनर्गठन का। **मॉन्टी पाइथन** जैसी मध्यम क्षमता वाली विभिन्न अंग्रेजी फ़िल्में विशाल निर्माण-मूल्यों के साथ उस काल का हमारे सामने पुनर्कथन करती है और हमें थकाकर समाप्त हो जाती है। फिर **बर्गमैन की फिल्म दि सेवन्थ सील** आती है,जो कि सामान्यत: यद्यपि हमेशा नहीं मध्य युगों की प्रतिमा विद्या से कुछ तत्व लेकर (जैसे कि प्लेग,मृत्यु-नृत्य,मृत्यु का चरित्र, शतरंज का खेल,या बाइबिल का वाचन) बहुत मन्द और त्रासद लय के साथ एक ऐसा वातावरण निर्मित करने में सफल होती है, जो कि हमारे सामने चौदहवीं शताब्दी को ला खड़ा करता है,भले ही चौदहवीं शताब्दी वस्तुत: बहुत भिन्न थी। मेरा यह विचार है कि उस साधन को चुनने में जिससे या तो किसी महान कृति का जन्म होता है या कोई भी महान कृति नहीं बनती, कतिपय विवेक और बुद्धि की आवश्यकता होती है। चर्चा पर वापस लौटते हुए मैं यह कहूँगा कि इस क्षण फ्रेंच सिनेमा *निश्चय ही* एक दयनीय अवस्था से गुजर रहा है, किन्तु हमेशा ऐसी हालत नहीं रही। हमने न्यू वेव्ह की फ़िल्में बनायी। खेदजनक बात यह है कि न्यू वेव्ह वाली फिल्मों में उपलब्धि इतिहास के क्षेत्र में अधिक नही रहीं।

रेने एल्लिओ: मैं वस्तुत: यह कहूँगा कि वहीं उसने अपनी सीमाएं पायी। न्यू वेव्ह ने

अपना ऐतिहासिक मिशन खो दिया क्योंकि इतिहास से उसका सरोकार नहीं था।

फिलिप जुतार्द : इस प्रश्न के संबंध में कि अच्छी ऐतिहासिक फ़िल्म कैसे बनायी जाये, फेरो के पदचिन्हों का अनुसरण करते हुए, और किसी स्पेनिश गाँव का उपयोग करते हुए ओसिस्तान विश्व का पुनर्गठन करने के संबंध में ले रॉय लादुरी के विचार एक बार फ़िर से लेते हुए, और अन्त में भाषा के प्रश्न पर एल्लिओं का कुछ खंडन करते हुए मैं यह कहना चाहूँगा कि ऐतिहासिक फ़िल्म बनाने का एक *बुरा* तरीका है और वह है ब्यौरों पर बहुत अधिक ध्यान देना। अब मैं यह अनुभव करता हूँ कि भाषा के बारे में भी यही बात लागू होती है। अधिकांश मामलों में कथानकों के अदल-बदल की तरह स्थानों के अदल-बदल को स्वीकार करना आवश्यक होता है। किसी अतीत के प्रति पुरातत्वीय दृष्टि से निष्ठावान होने की चाह रखना बहुधा उसके साथ विश्वासघात करने का सबसे अच्छा तरीका है। इसलिए ले रॉय लादुरी जो कहते है वह बहुत महत्वपूर्ण है। किन्तु दूसरी ओर यह बात विषय पर निर्भर होती है कि किसी सामूहिक नायक को लिया जाए या कि बड़े सितारों को लिया जाए। यह बिलकुल स्पष्ट है कि किसानों के विश्व को चित्रित करने के लिए महान सितारों को लेने में कोई तुक नहीं है। यद्यपि सेवेनोल लोगों ने लेस कमिसार्दक को पसंद किया, तथापि यदि उनके कुछ आक्षेप होते तो इसका अर्थ, उदाहरणार्थ यह है कि जिन स्त्रियों ने किसानों की भूमिका अभिनीत की उनके नाक-नक्श सेवेनोल जैसे कदापि नहीं थे,उनमें एक प्रकार की निर्द्वंद्व कामुकता थी,जो कि सेवेनोल स्त्रियों का लक्षण कदापि नहीं है।

रेने एल्लिओ : उद्देश्य संघर्ष का आनंद दर्शाना भी था। अब मैं पुनर्गठन की समस्या पर वापस लौटना चाहूँगा। यह सच है कि इतिहास की कतिपय अवधियों के लिए हमारे पास प्रलेखों के रूप में ऐसे साधन हैं, जिनके सहारे हम विगत वास्तविकता के ब्यौरे को बहुत यथार्थता के साथ पुनर्गठित कर सकते है। हम जो बात कम जानते है वह यह है कि लोग इस *दिक्* के भीतर कैसे विचरण किया करते थे। मै इस बात पर शर्त लगाने के लिए तैयार हूँ कि यदि कोई व्यक्ति पुरातत्वीय दृष्टि से चोदहवें लुई के दरबार की पुनर्रचना करे और उस समय के हाव-भाव और आचारव्यवहार के साथ उसे हमारे सामने प्रस्तुत करे तो हम कुछ भी नहीं समझेंगे। वहाँ के लोग हमें बिलकुल अजनबी जान पड़ेंगे। प्रभाव इतना अजीब होगा कि हमारा वर्तमान विश्व चकनाचूर हो जाएगा। हमारे पास विरोध का वह द्वंद नहीं रह जाएगा, जिसके द्वारा अतीत के रूप वर्तमान के रूपों के आमने-सामने आते हैं, जो कि हमारे भीतर है,न कि फिल्म में। जो बात महत्वपूर्ण है वह यह है कि उन अर्थवान तत्वों को पाया जाए, जो कि मात्र रूप न हों, बल्कि उससे भी अधिक उस युग की मानसिकता के क्षण हों, ताकि उन्हें ऐसे नाटक में एकीकृत किया जा सके जो कि वर्तमान का नाटक हो।

फ्रेदरिक वितो : मैने इसके पहले जो प्रश्न पूछा था उसका अभिप्राय ठीक यही था। क्या

ऐतिहासिक फ़िल्म की यह महत्वाकांक्षा होती है कि वह पूर्णतः यथातथ्य हो। तावर्निए (Tavernier) की फ़िल्म **के लाफेते कामेंस** (Que la fete commence) में हम कतिपय ब्यौरों को देखकर विक्षुब्ध हो जाते है, जो कि अत्यधिक सही-सही हैं, उदाहरणार्थ, **वर्सेलीस** में लोग बालटियों में पेशाब कर रहे है। कहा जा सकता है कि यह एक ऐसा ब्यौरा है जिसके बारे में किसी ने नहीं सोचा था, किन्तु ऐसे ब्यौरे हमें फ़िल्म की ऐतिहासिक रूचि से विकर्षित करते है।

एमेनुएल ले रॉय लादुरी : दूसरी ओर अतीत संबंधी किसी फ़िल्म में वर्तमान की एक बहुत विस्तृत उपस्थिति की समस्या है । तावर्निए द्वारा बनायी गयी दो फिल्मों के अंत में बहुत अजीब बिंब है । फ़िल्म **के ला फोते कोमेंस** में इतना बुरा हाल नहीं है। हमेशा किसानों के विद्रोह हुए हैं, और अधिक से अधिक उस विद्रोह को 1789 की क्रांति का संदेशवाहक ठहराया जा सकता है किन्तु फ़िल्म ले शुश एन ल असासी (le juge et lassassin) के अंत में सोवियत रंग आनवबोध्य है।

फिलिप जुतार्द : मैं आपसे पूर्णतः सहमत हूँ फ़िल्म-निर्माता बहुत अधिक कहने के फंदे में इस बात पर विचार किए बिना फँस जाता है कि ऐतिहासिक दृष्टि में दो विभिन्न विश्लेपणों को एक ही टोकरी मे रखने में रखने के औचित्य को चुनौती दी जा सकती है। कहने का अर्थ यह है कि एक ओर तो बहुत अनुदार यहूदी विरोधी दक्षिण पंथी विचार और दूसरी ओर उन्नीसवीं शताब्दी के अंत के बर्बर पूंजीवाद को एक साथ नहीं रखा जा सकता । ये दो चीजें समानान्तर घटनाएं नहीं है, बल्कि ठीक विपरीत हैं। फ्रांसीसी समाजवादियों के एक वर्ग ने वामपंथियों के एक वर्ग पर यह आरोप लगाया कि उसने सामाजिक समस्या का निरसन करने के लिए **ड्रेफस घटना** का उपयोग किया । परिणाम बिल्कुल व्याघाती है। अंततः इस विवाद्य पहलू से हटकर भी यह तथ्य बना रहता है कि जब कोई व्यक्ति बहुत अधिक कहना चाहता है तो फिल्म की लय तथा विश्वसनीयता का विध्वंस हो जाता है। अनेक लोगों ने जो कि इस प्रकार की विचारधारा के विरोधी नहीं हैं, फिर भी इसे सही लीक से हटकर चलना माना है।

मार्क फेरो : तावर्निए एक ऐतिहासिक फ़िल्म के माध्यम से जो कि व्यावसायिक प्रतीत होती है, अपना राजनीतिक प्रवचन व्यक्त करना चाहते थे। वे समाज के संबंध मे संस्थाओं के कार्यक्रम को दर्शाना चाहते थे और इस तथ्य को अधोरेखित करना चाहते थे कि यहूदी-विरोध को सम्माननीयता के एक ऐसे आभास के नीचे छिपाया जा सकता है, जो कि हमारे दृष्टिकोण से मेल खाता है। प्रथमतः उनका प्रवचन संक्षारक है। उन्होंने उसे कूटकथावस्तु में और दृश्यों के चुनाव मे, जो कि ऐतिहासिक फिल्म का वेश धारण किए हुए है, छिपाने का प्रयत्न किया है। इस प्रकार वे उन बातों को कहने में सफल हुए है जो कहना चाहते थे, किन्तु जिन्हें साधारणतः कहा नहीं जा सकता, क्योंकि उन्हें स्वीकार करने के लिए कोई भी जनता नहीं है।



रेने एल्लिओ : किन्तु कला में सर्जन के पूर्व कोई प्रवचन नहीं हो सकता। यह अधपके और गलत तरीके से समझे गये ब्रेख्तीय विचारों का महाजाल है। ऐसा नहीं हो सकता कि मनुष्य पहले तो सोचे और उसके बाद अपने विचार को व्यय करने के लिए कोई कलात्मक वस्तु गढे।

माइकेल सिने : मेरी राय में **तावर्निए** को **द ओरेन्श** (A Aurenche) और **बोस्त** (Bost) से अलग नहीं किया जाना चाहिए । **तावर्निए** की फिल्में एक कतिपय प्रकार के फ्रांसीसी नाटक की सजातीय हैं, जिसने, उदाहरणार्थ, **पापुलर फ्रन्ट** के अन्तर्गत अभिव्यक्ति पायी।

इमेनुएल ले रॉय लादुरी : सोलहवी और सत्रहवीं सदी की ऐतिहासिक वास्तविकता ने असाधारण चलचित्रीय दृश्य-विधान प्रदान किए, जैसे कि राजसी प्रवेश, कार्निवाल आदि; संभावनाएं अविश्वसनीय थीं। फिर हमारे **कार्टेशियन** देश में यह सब गायब हो गया । हम अब यह नहीं जानते कि कोई उत्सव कैसे मनाया जाता है, जबकि हमारे तन कार्टेशियन पड़ोसियों के बीच, स्पेन में या स्विटजरलैण्ड में मेरा विश्वास है कि यह सब बहुत जीवित बचा हुआ है। जो कुछ सामान्यतः कहा जाता है उसमे विपरीत ये उत्सव केवल पर्यटकों के लिए अभिप्रेत नहीं हैं। इन देशों में ऐसे नगर आज भी हैं जो कि धार्मिक आदेश से हिल उठते हैं । यह सारी सामग्री ऐसी है जिसका उपयोग किया जाना चाहिए।

फिलिप जुतार्द : मैं तीन टिप्पणियाँ करना चाहूँगा : (1) आर्देश (Ardech) क्षेत्र में एक ऐसी सम्पूर्ण परम्परा विद्यमान है, जो कि ग्वाले के इर्दगिर्द घूमती है । इसका उपयोग किया जाना रूचिकर होता, किंतु आज तक किसी ने भी ऐसा नहीं किया है। (2) **प्रोवेन्स** (Provence) के कतिपय गांवो में आज भी अनेक आनंदवर्धक उत्सव है; उदाहरणार्थ, हलवाहे का उत्सव, जहां अभी-अभी पांच वर्ष पहले तक **करामोंत्रों** (Caramantron) अर्थात उत्सव के प्रमुख को जलाया जाता था। यह उत्सव जनवरी में होता है, इसलिए वह एक मात्र पर्यटकों के लाभ के लिए नहीं हो सकता । इस प्रकार की कहानी को आजतक भी फिल्माया नहीं गया है। मै जानबूझकर ***आज तक*** इसलिए कर रहा हूं क्योंकि हम उन साधनों पर निर्भर है जो कि लोगों के पास हैं। मेरा विचार है कि **मांतेलु** को पढ़ने के बाद, जो कि एक महान सफल कृति रही है, और **शेवल द ओर्ग्युएल** (Cheval d Oeguel) को पढ़ने के बाद फ्रांसीसी लोग उन चीजों को समझ सकते है जिन्हें वे पहले आत्मसात नही कर सकते थे। हम चीजों को उलट सकते है, और इसलिए जब इतिहासकार लोकप्रियकर्ता होता है तो अच्छा होता है। क्योंकि ये पुस्तकें लोकप्रिय हुई हैं, इसलिए वे चीजें की जा सकती है जो कि पन्द्रह या बीस वर्ष पहले नहीं की जा सकती थीं।

माइकेल सिने : और इस ***लोकप्रियकरण*** को, शास्त्रीय रहस्यमयता की इस अस्वीकृति को फिल्म-निर्माताओं द्वारा एक विषय-वस्तु के रूप में लिया जा सकता है।

रेने एल्लिओ : मुझे इसमें संदेह है। जुतार्द जनता में एक बढ़ती हुई *अभिरूचिकी* बात कहते हैं। यह वहां सच हो सकता है जहां पढ़ने का सम्बन्ध है, किंतु सिनेमा में इसे मानकर नहीं चला जा सकता । **पिएरे-रिविएरे** में मैंने इसी चुनौती को स्वीकार करने की कोशिश की है।

इमेनुएल ले रॉय लादुरी : बहरहाल हम प्रान्तों की अद्भुत सम्पन्नता को खोज रहे है। दशकों तक फ्रांसीसी सिनेमा **सेन्ट बार्थलेमी** तथा **कैथेराइन द मेदेसिस** पर फिल्में बनाता रहा है,ये कहानियाँ पेरिस में घटीं । किंतु हमे उन नये तत्वों को खोजने के लिए जो कि हमारी कल्पना और हमारी संवेदना ग्राहिता को अपील करते है, प्रान्तों की ओर जाना पड़ता है। इतिहास अब प्रचलित क्षेत्रीयतावादी आंदोलन के साथ-साथ इसकी खोज की प्रकिया में है और संभवतः शीघ्र ही सिनेमा की बारी आएगी।

फिलिप जुतार्द : अब तक **मांतेलु** की लगभग एक लाख प्रतियाँ बिक्री हैं। यदि हम बेंची गयी हर पुस्तक पर तीन पाठकों को चिनें तो पाठकों की संख्या उन लोगों की संख्या के बराबर होगी जिन लोगों ने फिल्म **ले शुश एत ल असार्सी** या **लेस कमिसार्दस** को देखा है। ऐसी ही सफल दो या तीन पुस्तकों के जरिए हम उस प्रकार की जनता को समाविष्ट कर सकते है जिसके बूते पर एक अन्य शैली की फिल्में बनती हैं।

रेने एल्लिओ : क्या वह वस्तुतः वही जनता है ?

इमेनुएल ले रॉय लादुरी : हम एक प्रकार के, फिल्म से पुस्तक की ओर और पुस्तक से फिल्म की ओर होने वाले गमनागमन की कल्पना कर सकते है; फिर जिन लोगों ने एल्लिओ की फिल्म देखी है वे लोग फोकाल्त (Foucauly) की पुस्तक खरीदेंगे और फिर विशाल दर्शक-वर्ग भी है।

मार्क फेरो : रंगमंच के विकास और सिनेमा के विकास की तुलना पर आते हुए मेरा यह विचार है कि आपका, जहाँ रंगमंच का संबंध है,वहाँ कुछ कठोर रहे है। आखिरकार, प्लॉशों (planchon) के साथ एक बड़ा परिवर्तन आया है . . . ।

रेने अल्लिओ : सिनेमा में महान कला फिल्म लेस आंफां दु परादी (les enfants du Paradis) एक विच्छेद है। वह फ्रांसीसी सिनेमा की समाधि है।

मार्क फेरो : नई लहर (न्यू वेव्ह) के सिनेमा के बारे में चर्चा करते समय हमने केवल उसकी सीमाओं की बात ही की है और विशेषत: यह कहा है कि वह इतिहास में अधिक रुचि नहीं लेता। यह अनुचित है,क्योंकि नई लहर की फिल्मों का एक अन्य महत्वपूर्ण कार्य है; उन्होंने कतिपय घटनाओं के प्रति समाज को सचेत बनाकर इतिहास पर प्रभाव डाला है। नई लहर के सिनेमा ने उसके कार्य करने के ढ़ग के बारे में समाज की आँखे खोल दी है।

रेने एल्लिओ : नई लहर के सिनेमा ने जो अत्यन्त क्रांतिकारी काम किया है, वह यह है कि उसने अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता और सिनेमा की अभिव्यक्ति के साधनों को प्रश्नांकित किया है। किन्तु उसने किसी भी वास्तविक परिवर्तन का निर्माण नहीं किया और प्रणाली ने उसे फिर से निगल लिया क्योंकि उसने प्रचलित वास्तविकता पर विचार नहीं किया। गोदार्द को छोड़कर, वह लोकाचार का सिनेमा था, जो कि फ्रांसीसी परंपरा में दृढ़ता से जुड़ा हुआ है।

माइकेल सिने: चूँकि किसी भी दशा में हम इस विषयांग पर पूरी-पूरी चर्चा नहीं कर सकते, इसलिए क्या अन्तर्राष्ट्रीय तथा विशेषत: फ्रांसीसी रेट्रो पर कुछ कहना चाहेंगे ? हाल ही के अतीत में ऑकुपेशन (सैनिक बलों द्वारा किसी क्षेत्र या देश के दखल) में फासिज्म में, द्वितीय विश्व युद्ध में इस विशिष्ट रुचि को कौन सी चीज अभिप्रेरित करती है ?

फिलिप जुतार्द: किन्तु क्या यह सब इतना नया है ? अब अनेक वर्षों से द्वितीय विश्व युद्ध फासिज्म रेजिटेन्स पर अनेक पुस्तकें आयी हैं, टेलीविजन पर वाद-विवाद है। इतिहास को लोकप्रिय बनाने के अधिक शोचनीय प्रयास अधिकांशत: 1919 के बाद,सारत: समकालीन इतिहास के इर्दगिर्द केन्द्रित है।

रेने एल्लिओ : इस प्रवृत्ति में केवल वैचारिक अभिप्रेरणाओं को देखना गलत है। वहां एक विशुद्धत: तथ्यात्मक घटना है: टेलीविजन बिंबों की अपेक्षा करता है और इसके

परिणामस्वरूप हम एक बार फिर से हाल ही के अतीत पर बनी डाक्यूमेन्ट्री फिल्मों और फीचर फिल्मों को देखने के लिए प्रेरित हुए हैं। वर्ष 1935-1939 के बारे में बनी कोई भी फिल्म, चाहे वह कितनी ही मामूली क्यों न हो, एक ऐतिहासिक वस्तु बन जाती है। जब कोई व्यक्ति इन फिल्मों को देखता है तो वह, तब भी जब वे कथा-फिल्में हों और उनमें वास्तविकता का कोई दिखावा न हो, इतिहास को ही ग्रहण करता है। सिनेमा की यह शक्ति इतिहास की वास्तविकता को फिर से जीवित कर देती है। टेलीविजन ने उसका विपणन किया है और विचारधारा ने उसे जारी रखा है।

मार्क फेरो : इस फ़र्क के साथ कि *अच्छी* रेट्रो फिल्मों में, जैसे कि लेस टांपेस(Les Famnes) या लाकोंब लूसि (Lacombe Liucien) में, एक जिज्ञासा है, विश्लेषण का एक प्रयास है, जो कि लगभग दस वर्ष पीछे जाता है और प्रश्न करने की एक अधिक सामान्य और प्राचीन इच्छा का भाग है। समाज के विश्लेषणों में ख्रुश्चेव रिपोर्ट जो कि समाजवादियों द्वारा यथा व्यवहृत सामाजिक विश्लेषण की नीवों को चुनौती थी, जिसके परिणामस्वरूप वामपंथी बुद्धिजीवियों के बीच विच्छेद हो गया, जैसी घटनाएं ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण रही हैं। इसके बाद लोग उन चीजों को चुनौती देने लगे, जिनके बारे में लोगों ने कभी भी चिंता नहीं की थी जैसे परिवार और शिक्षा। मई 1968 में सभी दृढ धारणाओं को चुनौती दी गयी। किन्तु एक दृढ़ धारणा ऐसी थी, जिसे इसके पूर्व कभी भी चुनौती नहीं दी गई थी, कि फासिज्म एक निरपेक्ष अमंगल था। कुछ लोग यह देखना चाहते थे कि इस युग के उस नाटक का, जिसे व्यवस्थित रूप से नरक के रूप में परिभाषित किया गया था, पुनः विश्लेषण किया जा सकता था। इसका अर्थ यह नहीं है कि वे लोग जिन्होनें यह विश्लेषण किया न्यूनाधिक रूप में फासिस्ट थे; कदापि नहीं। किन्तु वे एक ऐसे विश्लेषण को अपनाना चाहते थे, जिनमें उन प्रक्रियाओं का उपयोग नहीं किया जाता था, जो एक अन्य प्रकार के बौद्धिक दिवालियेपन की ओर जैसे कि स्तालिनवाद की ओर ले जाती थीं। लुई माले (louis Malle) की फिल्म की गहराई, जिसके बारे में मैंने बहुत आलोचना सुनी है, यह है कि उसने यह दर्शाया है कि जब तक कतिपय सामाजिक स्थितियाँ और कतिपय असमानताएं विद्यमान रहती हैं तब तक किसी भी समाज में कोई भी फ़ासिस्ट बन सकता है। लोगों ने कहा कि वे उन लोगों को विमुक्त कर रहे थे जो 1940 में फ़ासिस्ट बने थे और लोगों ने उनकी उग्र आलोचना की। किन्तु वस्तुतः उन्होंने एक बहुत महत्वपूर्ण समस्या को अभिज्ञात किया था। विस्कोंती(Visconti) ने भी एक अन्य सामाजिक परिवेश में कुछ करने की कोशिश की। उनका विश्लेप माले के विश्लेषण की अपेक्षा कम, यथातथ्य, कम गंभीर था। जिस चीज को रेट्रो विधि कहा जाता है, कोई विधि नहीं है। जब लोगों को ऐसा महसूस हुआ कि द्वितीय विश्व युद्ध और जर्मनी की पराजय से किसी भी प्रकार से उस चीज का निरसन नहीं हुआ, जो कि सभी संत्रासों (जिन्हें फासिज्म के नाम मे अन्तर्गत समूहित किया जाता है) के

मूल में थी, जिन संत्रासों के दौर में व्यक्ति को जीना पड़ता था, और यह कि वे स्थितियाँ) जिनसे, पहले-पहल फासिज्म का निर्माण हुआ था, अब भी विद्यमान थीं। अग्रगामी बुद्धिजीवी लोग, बहुधा फिल्म-निर्माता, स्वयं से इस विषय पर प्रश्न पूछने लगे, और इसी से *रेट्रो विधि* का जन्म हुआ।

फिलिप जुतार्द : मैं फेरो से सहमत नहीं हूँ। वे लेखक के दृष्टिकोण से बोलते हैं, जबकि मैं जनता के दृष्टिकोण से बोलता हूँ। मैं वही विचार विकसित करने की कोशिश कर रहा हूँ कि एक कतिपय प्रकार की फिल्म की सफलता के लिए कतिपय समाजशास्त्रीय स्थितियाँ अपेक्षित होती हैं। अब यह स्पष्ट है कि *रेट्रो,* तावर्निए या एल्लिओ की तुलना में,एक अन्य प्रकार की सफलता है। दर्शकों की संख्या बीस या तीस लाख से बहुत अधिक हैं इन आंकड़ों का यह अर्थ है कि गहरी तैयारी हुई है और मेरा यह विचार है कि यह तैयारी टेलीविजन द्वारा उतनी ही कार्यान्वित की गई है, जितनी कि पीढ़ी-दर-पीढ़ी चली आ रही नानी की कहानियों द्वारा,क्योंकि हम इन फीचर फिल्मों और डाक्यूमेन्ट्री फिल्मों में अपने स्वयं के अतीत को पाते हैं।

रेने एल्लिओ : वह एक ऐसी घटना है,जो कि मानवता के इतिहास में पहले कभी विद्यमान नहीं रही। पहले कभी भी इतने अधिक लोगों ने इतनी अधिक मात्रा में डाक्यूमेन्ट्री फिल्में नहीं देखी, जिनमें वे अपने स्वयं के इतिहास को पढ़ सकते थे।

फ्रेदेरिक वितो: जी हां, किन्तु 1939 में, उदाहरणार्थ, प्रथम विश्व युद्ध पर लगभग इतनी ही अधिक डाक्यूमेन्ट्री फिल्में थीं।

रेने एल्लिओ : वे अधिकांशतः ***किताबी*** डाक्यूमेन्ट्री फिल्में थीं।

फ्रेदेरिक वितो: जहाँ तक द्वितीय विश्व युद्ध का संबंध है वहाँ एक विशेष रूप से गंभीर, विशेष रूप से उत्कट समस्या थी- फासिज्म।

रेने एल्लिओ : मै यह नहीं कहता कि समस्या विद्यमान नहीं थी। किन्तु वह इसलिए पैदा हुई क्योंकि भूमि पहले से ही तैयार थी।

इमेनुएल ले रॉय लादुरी : रूप की, समर्थन की भी समस्या है। 1914 के बेले एपोक (Belle Epoque) की चलचित्रीय तकनीकें गिर-गिराकर,ठोकरें खाकर आगे बढ़ने की चेष्टा कर रही थीं, जबकि चौथे और पांचवे दशक में हुई उन्नतियों के साथ एक तकनीकी परिपक्वता आयी जो कि हमारे समय की तकनीकी परिपक्वता के साथ तुलनीय है। इस प्रकार अतीत की यात्रा आसान हो गई है।

मार्क फेरो : मैं माँग की समस्या पर लौटना चाहूंगा,जो कि हमें चर्चा के मूल बिंदु पर लाती है। एक उदाहरण देता हूं: कभी-कभी मुझे विश्वविद्यालयों में फिल्में दिखानी होती हैं। जब कभी मैंने ले शुइफ सीस (Le juif siiss) फिल्म दिखायी तब-तब हमेशा किसी भी अन्य फिल्म देखने वालों की अपेक्षा अधिक संख्या में लोगों ने वह फिल्म

देखी। लोग इस फिल्म को उसका ऐतिहासिक विश्लेपण करने के बहाने से देखने आये। मैं यह समझ सकता हूँ कि लोग देखना चाहते हैं कि एक टिपिकल फासिस्ट फिल्म कैसी हेती है। किन्तु जब-जब प्रत्येक बार, इस फिल्म को दिखाना शर्मनाक है ... फासिस्ट वगैरह-वगैरह कहकर व्यवधान उपस्थित किए जाते हैं तब-तब भले ही यह कहने की आवश्यकता नहीं कि मुझे क्रोध आता है, फिर भी मुझे महसूस होता है कि वह एक रुचिकर किन्तु संवेदनशील प्रश्न को छूती है।

इमेनुएल ले रॉय लादुरी : वह पैशाचिकता के प्रति आकर्षण है। एक बार मैंने हिटलर के 1932 के निर्वाचन-अभियान पर बनी एक फिल्म देखी । यह सच है कि वह जादू जैसा असर कर देती है। मुझे ऐसा लगा कि उसे देखकर मैं नाजी बन रहा हूँ।

फ्रेदेरिक विती : निग्रहों और सेन्सरशिप की चर्चा किए बिना हम संभवतः स्वयं से यह पूछ सकते हैं कि ऐसी फ़िल्में प्रस्तुत की जानी चाहिए या प्रस्तुत नहीं की जानी चाहिए; ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार हम यह सोच सकते है कि क्या रेबाते (Rebatet) को प्रकाशित करना उचित है। इस पुस्तक की चालीस हजार प्रतियां कुछ ही सप्ताहों में बिक गयीं, जिन लोगों ने उसे खरीदा वे सभी लोग विशेषज्ञ नहीं थे । इसलिए हमें इस प्रकार के संदिग्ध, विक्षोभ कारक वाचन पर भी विचार करना चाहिए।

रेने एल्लिओ : यह बहुत पहले दफना दी गयी चीजों के प्रति आकर्षण का एक अन्य दृष्टान्त है। आलमारियों में कंकाल रखे है और जिन लोगों को कंकालों में दिलचस्पी है वे लोग जाते है और पुस्तक खरीदते है या फिल्म देखते है।

फिलिप जुतार्द : व्यक्तिगत रूप में मैं फ़िल्म **ले शुइफ सीस** को दिखाने के पक्ष में हूँ, क्योंकि उसके प्रति आकर्षण के तत्वों में से एक तत्व इस तथ्य से उत्पन्न होता है कि वह *निषिद्ध* है। व्यक्ति को निर्णय करना होगा: या तो व्यक्ति को ऐसा महसूस होता है कि सत्य की विजय होगी या कि वह ऐसा नहीं सोचता। **ले शुइफ सीस** को न दिखाने का अर्थ है आरंभ से ही यह स्वीकार करना कि व्यक्ति जीत नहीं सकता ।

मार्क फेरो : विश्लेपण इस आकर्पण के एक पहलू के निरसन में सहायक होता है।

फिलिप जुतार्द : और यदि फ़िल्म ***ले शुइफ सीस*** जादू का असर करती है तो यह जानना महत्वपूर्ण है कि क्यों करती है।

इमेनुएल ले रॉय लादुरी : हम ऐतिहासिक खामोशियों को भी न भूलें। **ले शार्गिन एत ला पिती** (Le Chargin et la pitie) जैसी एक उत्कृष्ट फिल्म पर विचार करे । उसमें दुक्लोस (Duclos) का चित्रण हास्यास्पद है। 1940 में दुक्लोस की भूमिका बहुत संदिग्ध है, किन्तु फिल्म में उसे रेजिस्टेन्स के एक अच्छे पक्षधर के रूप में प्रस्तुत किया गया है। लेखक जो कि इस संदर्भ में बहुत पेरिसीय है, फ्रांसीसी साम्यवाद के प्रबल गुट के वैचारिक दबाव के आगे झुक गये हैं इतिहासकार इसे आघातकारी पाता है।

फिलिप जुतार्द : मै फेरो से यह पूछना चाहूंगा कि उन्होंने *रेट्रो* विधि के बाद जो डाक्यूमेन्ट्री फिल्में बनायी है क्या वे वैसी ही प्रतिक्रिया प्रेरित करती है जैसी कि *रेट्रो* विधि के पूर्व प्रेरित करती थीं।

मार्क फेरो : लोग डाक्यूमेन्ट्री फिल्मों और फीचर फिल्मों में कार्यकरण में विभेद नहीं करते। इस प्रकार एक दिन **वालेन्स** (Valence) में मुझे स्वयं को यह कहते सुनकर आश्चर्य हुआ कि मै *रेट्रो* फिल्में बनाता हूँ, क्योंकि उसी समूह ने, जिसने अन्यत्र व्यवधान उपस्थित किया था, न केवल जर्मन लोग नाजी कैसे बने इस विषय पर बनायी गयी मेरी 15 मिनट की लघु फिल्म को हूट किया, बल्कि **विस्कोंती** की फिल्म **दि डेम्ड** को भी हूट किया। इसमें संदेह नहीं है कि जनता की दृष्टि में विधाओं का प्रवर्गों का, डाक्यूमेन्ट्री फिल्मों और फीचर फिल्मों का विचार अस्तित्व में होता ही नहीं है।

फ्रेदेरिक वितो : द्वितीय विश्व युद्ध में अमरीकी प्रोपेगेन्डा फिल्मों की खूबी यह रही है कि उनमें प्रामाणिक जर्मन डाक्यूमेन्ट्री फिल्मों का उपयोग किया गया है, उदाहरणार्थ, प्रसिद्ध सिरीज **व्हाई आर वी फाइटिंग** में । अमरीकी लोगों द्वारा उपयोग में लायी गयी संपादन की नई तकनीकें जर्मनों की डाक्यूमेन्ट्री फिल्मों के स्वयं जर्मनों को विरूद्ध खड़ा कर देती है। संपादन में यही खूबी होती है; किसी डाक्यूमेन्ट्री को उसी रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है जिस रूप में वह हो; और इसी के साथ उसे मूल संदर्भ से बिलकुल भिन्न संदर्भ में एकीकृत किया जा सकता है।

मार्क फेरो : **काप्रा** (Capra) की फिल्में टिपिकल प्रोपेगेन्डा फिल्में है। ऐतिहासिक दृष्टि से कहा जाय तो इस प्रकार की फिल्मों को देखकर, जिनमें कोई भी विश्लेषण नहीं होता, दर्शक यह सोचकर हैरान हो जाता है कि लोग नाजी कैसे बनते है, क्यों हर कोई लोकतंत्रवादी नहीं है, और परिणामतः एक प्रकार से इतिहास उनके परिप्रेक्ष्य से निर्वासित हो जाता है, जबकि ***रेट्रो विधि*** वाली फिल्मों में, सभी दोषों के बावजूद, विश्लेषण का एक प्रयास होता है।

रेने एल्लिओ : अतीत के पुनर्जीवन की समस्या पर लौटते हुए मैं यह कहना चाहूंगा कि हमें स्पष्टतः यह समझ लेना चाहिए कि पुनर्गठित करना पुनराविष्कार करना है। अतीत के स्थान या अतीत में पर्यावरण का पुनर्गठन करते हुए हम आवश्यकतः पुनराविष्कार कर रहे होते है, क्योंकि हम रूपों के अजनबी पन की समस्या का सामना करते है, हम वर्तमान से कट जाते है। पिछली शीत ऋतु में मै स्टॉकहोम में था और मुझे **वासा** (Vasa) नामक एक विशाल गन बोट दिखाने ले जाया गया,जो कि **रिशेल्यू** (Richelieu) के जमाने की थी और उसमें साठ या अस्सी तोपें लगी हुई थी । इस तोप की डिजाइन अच्छी नहीं थी,उसका गुरुत्व केन्द्र बुरी तरह से अवस्थित था। जब इस तोप ने पहली बार स्टॉकहोम को पूरे भार के साथ छोड़ा और अपने पाल खोले तो हवा के एक झोंके ने उसे तत्क्षण डुबा दिया।आज उस जहाज को पुनर्गठित किया गया है और एक हैंगर में प्रदर्शित किया



जा रहा है। लोग मचानों और सीढ़ियों के सहारे सभी स्तरों को देख सकते है। इस जहाज के चारों ओर एक प्रदर्शनी लगायी गयी है जिसमें शवों के फोटोग्राफ लगये गये हैं जिनमें वे उसी हालत में दर्शाये गये है जिस हालत में वे पाये गये थे। मृतकों के लोक से इस जहाज को रूबरू देखना मात्र पुनर्निर्माण से कुछ बिलकुल भिन्न चीज है। यह लव्ह क्राफ्ट है । वह वास्तविकता का एक ऐसा रुप है जिसके साथ मनुष्य का संबंध इतिहास की दृष्टि से ही नहीं,बल्कि इतिहास के अतिरिक्त भी होता है । ऐसा जान पड़ता है कि ये नाविक हमारी ओर आने के लिए चल पड़े हैं। इतिहास के बारे में लिखना विशिष्ट युग की किसी वास्तविकता के प्रकटतः अपरिचित रूपों का पुनराविष्कार करना है। ऐतिहासिक फ़िल्म बनाना अतीत के रूपों को सशरीर उपस्थित कर देने जैसा कार्य है साहित्य के मामले में तो यह और भी अधिक सच है।

माइकेल सिने : यदि निर्देशकगण इतिहास की ओर अधिकाधिक मुड़ रहे हैं तो क्या यह इसलिए नहीं है कि इतिहास उन्हीं सामग्री अर्थात कहानियाँ देता है, जिन्हे देने में अब यूरोपीय लेखक और विशेपतः फ्रांसीसी लेखक सक्षम नहीं है क्योंकि वे भापा की समस्याओं में उलझे हुए है।

इमेनुएल ले राय लादुरी : वस्तुतः कहानियों का स्पष्ट अकाल पड़ गया है। हर चीज कही जा चुकी जान पड़ती है। तथापि, इतिहास प्रतिस्थापन में कथा की विषय-वस्तुएँ प्रदान कर रहा है।

रेने एल्लिओ : मेरी स्वयं की फिल्मों में मेरी कोशिश यही रही है कि मैं किसी ऐसे व्यक्तित्व को लूँ, जिसे कि निरन्तर सीमांत व्यक्तित्व समझा जाता रहा है, और उसे उचित परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करूं। मेरा अभिप्राय लोकप्रिय नायक अर्थात साधारण मनुष्य से है **ह्यमो क्वेलेन्क्व** नहीं बल्कि साधारण पुरूप और स्त्री । मेरी केवल एक फिल्म को छोड़कर सभी फिल्में इन दुर्बोध और अ-ऐतिहासिक जीवनों की महान घटनाओं का पुनर्कथन करती हैं ; और क्योंकि मै उन्हें वाणी देना चाहता हूँ, इसलिये मेरी समस्या उन्हें एक तुलनीय कहानी देने की होती है। फिल्म पिएरे रिविएरे के मामले में सामान्य लोग ही स्वतंत्र होकर बोलते है।

इमेनुएल, ले रॉय लादुरी : मेरा भी यह विश्वास है कि मांतेलु तथा पिएरे रिविएरे जैसी कृतियों में वस्तुतः साधारण लोगों को अभिव्यक्ति मिलती है,जबकि बाल्जाक और मोपासां की कृतियों में साधारण मनुष्य गँवार होता है और परिहास का विपय होता है। मांतेलु और पिएरे रिविएरे लोगों के एक ऐसे संपूर्ण समुच्चय को, जिनकी संस्कृति, जिनका लोक साहित्य तथा जिनमें उत्सव अधिकतर उपेक्षित है स्वयं को अभिव्यक्त करने योग्य बनाती है।

फिलिप ब्रुलार्द : यह एक विरोधाभास है कि जब उपन्यासकारों ने इतिहास का परित्याग कर दिया है और समग्रतः समाज विज्ञानों ने उसमें रुचि लेना छोड़ दिया है, फिल्म-निर्माता

प्रेरणा के लिए इतिहास की ओर मुड़ें। ऐसा प्रतीत होता है कि फिल्म-निर्माता को अपनी स्वयं की जड़ों की इस खोज में रुचि है मुझे देखकर अधिकाधिक आश्चर्य होता है कि युवा लोग सामूहिक तथा सामान्य विश्व के पुनराविष्कार की एक गहरी आवश्यकता का अनुभव करते हैं। यही बात एक बड़ी हद तक पिएरे ज़केज हेलियास (Pierre Jakez Helias) और ले रॉय लादुरी (le Ray Ladurie) की कृतियों की सफलता को स्पष्ट करती है,चाहे उनके गुण-दोष जो भी हों।

रेने एल्लिओ : एक संपूर्ण विश्व एक अभिव्यक्ति पाहना चाहता है, जिससे कि वह लंबे समय से वंचित है।

मार्क फेरो : हम दो प्रावस्थाओं में विभेद कर सकते है: पहली प्रावस्था तो वह है जिसमें लगभग दस या बीस वर्षो से, इतिहास बनाने वाले व्यक्ति (केन्द्रीय शक्तियाँ) प्रगामी रूप से उन लोगों को अभिव्यक्ति का अधिकार देते है, जिन्हे वह अधिकार कभी भी प्राप्त नहीं था। फिर एक दूसरी प्रावस्था स्वयं को, उदाहरणार्थ, पिएरे रिविएरे के जरिए परिभाषित करती है, जहां हम यह देखते है कि इतिहास का कोई विशिष्ट स्थान कदापि नहीं है, और यह कि जिस दृष्टिकोण से किसान इतिहास को देखता-समझता है और जिस दृष्टिकोण से विवेचक इतिहास को देखता-समझता है वे दो भिन्न, यद्यपि समान रूप से अपरिहार्य, दृष्टिकोण होते हैं, जिन्हें इतिहास के समग्र कार्यकरण को समझाने के लिए समझा जाना चाहिए।

फिलिप जुतार्द : इतिहासकारों तथा फिल्म-निर्माताओं द्वारा न्यायिक संस्थाओं में समान रूप में ली जाने वाली रुचि उस दृष्टिकोण से बहुत महत्वपूर्ण है क्योंकि न्यायपालिका दो विश्वों के बीच का मिलन-स्थल है।

इमेनुएल ले रॉय लादुरी : लेस कमिसार्दस में जुतार्द ने जो कुछ लिखा वह हमें साधारण लोगों के विश्व में पहुंचा देता है, जो कि एक बहुत अच्छी बात है। किंतु पिएरे रिविएरे पर लिखी पुस्तक में वस्तुतः नॉर्मन किसान से हमारी मुलाकात नहीं हुई। उसमे रिविएरे का टेक्स्ट निश्चय ही है,किन्तु उसके इर्दगिर्द जो विभिन्न अन्य तत्व है वे तत्व नार्मन किसान का नृजाति वर्णन प्रकट नहीं करते। अनेक इतिहासकार साधारण मनुष्य से कतराते है।उदाहरणार्थ जादू टोने पर लिखी गई मान्द्रू (Mandrou) की उत्कृष्ट पुस्तक को लीजिए। सारतः उन्होंने मजिस्ट्रेटों के बारे में कहा है, जबकि वास्तविक विषय जादूगरनियां थीं। हाल ही में बोलियों पर एक बहुत रुचिकर पुस्तक प्रकाशित हुई, जिसे तीन प्रख्यात इतिहासकारों ने लिखा है। इस पुस्तक में उन्होंने स्वयं बोलियों के बारे में– ओसितान तथा बितानी बोलियों के बारे में, जो कि अधिक रुचिकर है - कुछ कहने के बजाय इस बारे में अधिक कहा है कि इन बोलियों के बारे में क्या कहा गया है।

रेने एल्लिओ : लोकप्रिय भाषा को हमेशा सेन्सर किया जाता है।

इमेनुएल ले रॉय लादुरी : मेरा भी यह विश्वास है कि यह इतिहासकार का एक मूलभूत भय है अर्थात् भाषा के प्रति ज्ञानमीमांसल आकर्षण , जबकि वस्तुत: आवश्यकता इस बात की है कि भाषा के नीचे जो कुछ है उसका विश्लेषण किया जाए।

फिलिप जुतार्द : मेरे विचार से यह लिखित प्रलेख के प्रति आदर की पुरानी प्रत्यक्षवादी संकल्पना और श्रुति-परंपरा के प्रति संदेह के कारण भी है। इसके साथ दो वैचारिक धाराओं के अभिसरण को भी जोड़ दिया जाना चाहिए। श्रमिक-वर्ग संबंधि प्रलेखों प्रलेखों को पाना आसान नहीं है,बल्कि मानो कि दक्षिण पंथियों ने भी और वाम पंथियों नो भी कृषक-वर्ग पर दोहरी सेन्सरशिप लगा दी थी।

इमेनुएल ले रॉय लादुरी : देवदूत और गोरिल्ला ।

मार्क फेरो : हम यू.एस.एस.आर. में भी यही बात पाते है जहाँ समाजवादी दलों की मान्यता श्रमिक-वर्ग पर आधारित है,जो कि निश्चय ही कृषक-वर्ग नहीं है। इसलिए कृषक असभ्य होने चाहिए। इस तथ्य के बारे में कुछ कहना ही व्यर्थ है कि कोई व्यक्ति ऐसा होता है जो कि साधारण मनुष्य की बात कहने का आडंबर करता है_____।

अनुवादक- मो. रा.

भयावह की काव्यात्मकता : दिखने से कुछ ज्यादा

डेनिस एल. व्हाइट

हॉरर फ़िल्मों को समझाने वाले विचार ही काफी नहीं होते भयावहता को समझाने के लिए या ये फ़िल्में कैसे ये भयावहता पैदा करती हैं ?

इसका अर्थ यह कतई नहीं है कि हॉरर फिल्में अपने पूरेपन में अपने हिस्सों के योग से कुछ अधिक हैं यह बात किसी भी अच्छी या बुरी फिल्म के लिए कही जा सकती है। लेकिन वह बात जो किसी भी तरह की फिल्म को अच्छा बनाती है, वह पूरी तरह उसके हिस्सों और अवयवों के गुणों से नहीं समझायी जा सकती । वह बात कहीं उन हिस्सों की पहचान में छुपी होती है जिनके योग से फिल्म बनती है। वह बात हिस्सों के योग करने की प्रकृति में निहित होती है।

चूंकि ज्यादातर हॉरर फिल्में बी श्रेणी की समझी जाती है और इनमें किसी बड़े स्टूडियो का शायद ही कभी योगदान रहता हो, इसलिए इन्हें मनोरंजन समझना, या किसी अभिनेता, निर्देशक की दक्षता प्रदर्शन या सिनेमा इतिहास का कोई मुकाम समझना साधारण बात है। यही वजह है कि ऐसी फिल्मों का विश्लेषण सतही होता है और ज्यादातर कथासार और अंत बताने तक महदूद । हॉरर फिल्में कला की शर्तें पूरी कर सकती है या करती है जो कि फिल्म आलोचना का मुख्य बिन्दु है। अक्सर आलोचकों के खयाल में ही नहीं रहता। भयावहता और कला का सम्बन्ध ग्रीक काल से एक दूसरे से जुड़ा हुआ है। हॉरर शुद्ध अरस्तू की किताब पोइटिक्स में कुछ इस तरह से समझाया गया है :

भय और करुणा किसी भव्य कार्य से पैदा की जा सकती है लेकिन वे किसी बात के अंतर्निहित रूप गठन से भी पैदा हो सकती है– बगैर देखे भी कथा सुनने वाला भयावहता का रोमांच महसूस कर सकता है और होने वाली घटनाओं से उसके अंदर दया भी उपज सकती है।

गहरी अंधेरी रात में सूनसान विशाल महलों पर चमकती बिजली के शॉट, बन्द दरवाजों के नीचे की झिरी से झांकती परछाइयाँ, सीढियों की रेलिंग पर फिसलता हाथ, ये वे सब भव्य नजारे हैं जिनकी मदद से भयावहता पैदा हो सकती है। ये वे सब साधन है जो हॉरर फिल्मों में इतने इस्तेमाल होते हैं कि हॉरर फिल्म की किस्म इन्हीं साधनों से परिभाषित होती है । लेकिन यदि हम अपनी यादों और खास तरह की फिल्मों के संदर्भ से बाहर सोचें तो ये सभी साधन शाट्स अपने आप में कहीं भी भयावह और डरावने नहीं है, यानि भयावहता पैदा करने के लिए आवश्यक तत्व इन शाट्स के कहीं परे है। बावा द्वारा निर्मित **नाइटमेयर कैसल कैंटन की हाउस ऑफ फ्रेंकस्टाइन** ऐसी फिल्में है जो लगातार ऐसे शाट्स के जोड़ के अलावा कुछ भी नहीं है। इनमें हॉरर फिल्मों की सभी प्रिष्टोक्तियों जैसे सूनसान महल, पागल वैज्ञानिर, मृतात्मा की वापसी जैसे साधनों का बहुतायत से उपयोग है और ये फिल्में दर्शक में हास्य के अलावा कुछ और नहीं जगातीं । दूसरी तरफ **फ्रेंकाहीमर** द्वारा निर्मित फिल्म है. **मंचूरियन कैंडिडेट** जो हॉरर फिल्मों के सतही साधनों और चमत्कारों की प्रिष्टोक्तियों से दूर है या **हिचकॉक** की **साईको** जिसमें अंतर्निहित हास्य धारा है इनके बावजूद ये ऐसी फिल्में है जो बेहद भयावह और डरावनी कृतियाँ बन गई है।

यदि किसी फिल्म का विषय अतिप्राकृतिक,भूतप्रेत, शमशानपुराने महल, पागल वैज्ञानिक, अकेला द्वीप जैसी किसी बात से सम्बन्धित हो तो उसे हॉरर फिल्मों के तहत रखा जाता है और यदि विषय ये न हों तो उन्हें किसी और तरह की फिल्म माना जाता है। फिल्म की वे सभी किस्में जिनपर एक खास तरह की सतही चारित्रिक विशेषताएं चस्पा कर दी जाती है, उनके साथ यह खतरा होता है कि उनका दुष्प्रयोग होगा, उनके साथ असावधानी बरती जाएगी, निर्माता अतिआत्म विश्वासी हो जायेगा। इस तरह की फिल्मों में निर्माता बहुतबार उस फासले को पार करने में असमर्थ हो जाता है जो, उसे क्या करना और कहना है और वह क्या करने और कहने की सोच रहा होता है, के बीच होता है। वस्तुतः फिल्म की परीक्षा फिल्म स्वयं होती है न कि उसकी कोई ऐसी या वैसी किस्म। जब हॉरर फिल्में अपने अभिनय, फोटोग्राफी या निर्देशन की शर्तो पर या अपने सामाजिक सरोकारों, अपनी उपादेयता की शर्तों पर परखी जाती है तो वे अपनी दूसरी साथी पश्चिमी हास्य या भावना प्रधान फिल्मों जैसी ही होती है। उतनी ही बुरी या कमोबेश उनसे कुछ अधिक बुरी । फिल्मों का इस तरह का पारम्परिक विभाजन उस बात को कहीं नहीं छूता जो दरअसल में फिल्म बनाता है। इसी तरह कोई फिल्म हॉरर फिल्म सिर्फ इसलिए नहीं हो जाती कि उसमें हॉरर फिल्मों मं प्रयुक्त अवयवों का इस्तेमाल हो रहा होता है। अवयवों का योग न भयावहता बनता है न गुणवत्ता।

फिल्म सफल तब होती है जब वह देखने वाले को भावनात्मक रूप से छेड़े। जितनी सार्थक भावना जागेगी फिल्म उतनी ही सफल होगी । फिल्म द्वारा जगाए भावों में से एक है भयावहता । हॉरर फिल्मों का ऊपरी आवरण उनकी आलोचना और बनाने की प्रक्रिया

को सही दिशा नहीं दे सकता । हॉरर फिल्मों से पैदा होने वाले भावों को नजरअंदाज करने का नजरिया आसानी से उसे गलत दिशा में मोड़ सकता है । फिल्मों के विषय में अपनी राय और प्रतिक्रिया व्यक्त करने के लिए शब्द और व्याकरण का चुनाव एक कठिन प्रक्रिया है लेकिन इससे भी कठिन है उस प्रक्रिया के पीछे के तर्कों और अवधारणओं का विश्लेषण करना जिनके चलते फिल्मों के विषय में हम कोई राय बना पाते है । किसी आलोचक द्वारा की गई फिल्म की आलोचना दरअसल उन बातों को तार्किक ढंग से प्रस्तुत करना होता है जो फिल्म को देखते-सुनते वक्त उसके जेहन में अपरिभाषित ढंग से होती हैं । किसी साफ नकारात्मक या सकारात्मक प्रतिक्रिया से अलग कुछ आलोचक अगर कहता है तो वह एक बहस आमंत्रित करता है जो उसकी कही बात या समझी बात से आगे की बात है । दुर्भाग्य से जितना चमकीला आलोचना लेखन होता है वह उतना ही अर्थवान लगता है और वह उतना ही धोखा देने वाला भी होता है ।

फिर किसी भी कला की तरह हॉरर फिल्म यदि सफल होती है तो वह भी अपनी ताकत इस बात से पाती है कि उसका आसान और पारम्परिक विश्लेषण मुश्किल होता है । बहुत प्रसिद्ध और प्रदर्शित फिल्में जैसे वीनी की **कैबिनेट ऑफ डाक्टर कालिगरी**, मुर्नाउ की **नास्फेरातू**, जूलियन की **फैंटम ऑफ द ओपेरा**, वेल की **फेकस्टाइन**, या ब्राउनिंग की **ड्रेकुला** विश्लेषण को और मुश्किल बनाती हैं । ये कहना कि ये सभी फिल्में दूसरी फिल्मों की तुलना में ज्यादा प्रदर्शित हुई है तो यह बात शायद इन फिल्मों के गुणों के विषय में कही जा रही होती है जिससे कुछ भी साबित नहीं होता । दूसरी तरफ बिल्कुल कम देखी गई फिल्में जैसे इंग्राम की **मैजीशियन**.कर्टिज की **मिस्ट्री ऑफ द वैक्स म्यूजियम** वीनी की **हैड्स ऑफ आरेकल** विषय पर बहस को और ऊहा-पोह भरा बनाती हैं । ये सभी फिल्में आलोचक और गंभीर फिल्म दर्शकों का कहीं न कहीं समझा जाने वाला ***एलीट*** रवैया दर्शाती हैं । जब वह दर्शक वर्ग जिसने ये फिल्में नहीं देखी जब कभी इन फिल्मों को देखने का मौका पाता है तो वह उसके भीतर ***मैंने-ये-फिल्में-देखी है*** वर्ग का हिस्सा बनने की ज्यादा इच्छा होती है बनिस्बत फिल्म देखने के । वह इस प्रबुद्ध दर्शक वर्ग का सदस्य बनना चाहता है । लिहाजा ऐसी फिल्म चाहे कितनी अच्छी या कम अच्छी हो अपनी हैसियत बनाये रखती है ।

हॉरर फिल्मों के क्षेत्र में खासकर जहाँ एक ही कहानी बार-बार फिल्माई जाती है, यह नजरिया हमारे ऐतिहासिक और सौन्दर्यशास्त्रीय संदर्भों को इस सीमा तक विकृत करता है कि नये फिल्मकार न तो पुरानी फिल्मों की गलतियों से कुछ सीख पाते है और न ही उनकी सफलताएं दुहरा पाते है और इससे मुश्किल काम होता है इस किस्म की फिल्मों से अलग हट कर हॉरर फिल्में बनाना जिनमें परवर्ती लैसिकी फिल्मों के साधन या पैटर्न न उपयोग किये जायें । **कैबिनेट ऑफ डॉक्टर कालिगरी** एक ऐसी सफल फिल्म है जिसने बीस के दशक में परोक्ष रूप से जर्मन फ़िल्मों को प्रभावित किया लेकिन यह एक ऐसी

चर्चित और बेहतर फिल्म भी है जिसने फिल्मों की निर्माण प्रक्रिया पर कोई प्रभाव नहीं छोड़ा । इस फिल्म के चरित्र और सेटों का टुकड़ों में, दूसरी फिल्मों में दुहराव तो हुआ पर यह दुहराव कहीं भी उस बात को न छू सका जो कालिगरी की ताकत है । इस फिल्म की मुख्य और वुनियादी पकड़ खुद इसके निर्माता वीनी के हाथों दोबारा नहीं आयी जिसका प्रमाण है उनके द्वारा बनायी दूसरी लगभग हास्यास्पद फिल्म जेनुइन ।

सबसे पहले क्या ?

कोई भी फिल्मकार पहले किसी अवधारणा या स्क्रिप्ट को बिम्बों और ध्वनियों की एक श्रृंखला में ढालता है जो उसके मूल स्वर और बाहरी आवरण को व्यक्त करती है ।एक सफल हॉरर फिल्म बनाने के लिए फिल्मकार को यह निर्णय लेना होगा हि उसके लिए वह प्राथमिक बात कौन सी है जो भयावहता उत्पन्न करती है या कि क्या वे तत्व काफी हैं भयावहता पैदा करने के लिए जो प्रचलित हॉरर फिल्मों में होते हैं । साइको जैसी फिल्म क्यों हॉरर फिल्मों की श्रेणी में रखी जाती है न कि जासूसी या हत्या-रोमांच फिल्मों की श्रेणी में ?लेकिन जिस किसी ने भी साइको देखी होगी वह उससे पैदा होने वाले भय और आंतक से परिचित होगा और वह इसे हॉररफिल्मों की ही श्रेणी में रखना चाहेगा । इस फिल्म में हॉरर फिल्मों के प्रचलित मुहावरों और साधनों पर बहुत कम जोर दिया गया है मगर फिर भी इसका भयावह होना इस बात को दर्शाता है कि भयावहता का मूल फिल्म के बाहरी आवरण और मेकअप में न होकर कहीं और है । फिल्म के पहले शॉट से मेरीअन के जेनेट के द्वारा खेले चरित्र, ठहरे हुए प्रेम प्रसंग की ओर हमारा ध्यान जाता है । पैसों की चोरी और अपने प्रेमी तक पहुँचने की प्रक्रिया कैमरा इस तरह से पकड़ता है कि वह या तो मेरिअन पर केंद्रित होता है या उस लिफाफे पर जिसमें वह पैसे जमा कर रही होती है । उसके व्यवहार की बारीकी और उसके द्वारा लिफाफे का उठाया-धरा जाना पूरे ,समय हमारा ध्यान उसकी मानसिक अवस्था,उसकी सुरक्षा की खोज, जैसी बातों पर रखता है । उसकी जिन्दगी में एक गहरी दिलचस्पी पैदा होती है और फिर उसकी अचानक मौत उस पूरी दिलचस्पी को छिन्न-विच्छिन्न कर देती है, लेकिन दिलचस्प तरीके से फिल्म का केंद्र नहीं टूटता है । यहां एक कहानी खत्म होकर दूसरी शुरू नहीं होती बल्कि मेरिअन की कहानी हमें नार्मन बेट्स तक पहुँचाने का साधन बनती है, बल्कि साधन से कुछ अधिक । हम नारमन बेट्स को देखते हैं सिर्फ एक जासूस के रूप में जिसे मेरिअन के पैसों की तलाश में उसके प्रेमी ने भेजा होता है और जिससे मेरिअन की बहन मिलती है, मेरिअन की खोज के सिलसिले में । बारिश की रात,बेट्स और उसकी मां के सम्बन्धों में कुछ अजीब होने के संकेत, सूनसान सड़क और एक पुराना लगभग गोथिक घर — ये वे सब साधन हैं जो दूसरी हॉरर फिल्मों में भी इस्तेमाल होते है लेकिन वे इस फिल्म में कथानक में जबर्दस्ती नहीं लाये गये है । वे इस फिल्म में है तो अपने अंतर्निहित गुणों की वजह से उन संकेतों के कारण जो वे देते हैं और इसलिए कि ये सभी सबसे अधिक व्यावहारिक साधन है कथा कहने के ।

दूसरी ओर है उलमर की फिल्म द ब्लैक कैट जो लगभग प्रिष्टोक्ती की तरह उपयोग होते हॉरर फार्मूले का उपयोग करती दिखायी देती है। लेकिन यह उपयोग एक विरोधाभास पैदा करने के लिए प्रयोग में लाया गया है, उस परम्परा से दूर हटने के लिए जो आगे आती है । फिल्म एक दम्पत्ति की एक अनजाने देश में आधी रात की यात्रा से शुरू होती है, आगे उन्हें एक डरावना और रहस्य से भरा अजनबी मिलता है और तीनों एक तेज तूफान में घिर जाते हैं। लेकिन यहां फिल्म प्रचलित प्रिष्टउक्ति को उलटती है। बजाय किसी सूनसान किले के तीनों पात्र एक अत्याधुनिक साफ सुथरी स्टेट में अपने को पाते है, दूसरी सुबह एक खूबसूरत बसन्ती सुबह होती है और अजनबी दम्पत्ति का रक्षक बन जाता है। यहां फोटोग्राफी में गहरी विरोधाभासी फोटोग्राफी के गहरे रंगों के स्थान पर अचानक सौम्य और धूसर रंगों का प्रयोग हुआ है जो स्टर्नबर्ग की याद दिलाते है ? ब्लैक कैट , साइको की तुलना में एक कम जटिल और कम गंभीर फिल्म है लेकिन यह भयावहता पैदा करने में सफल होती है। यह फिल्म अपने कथानक और तकनीक के बावजूद यदि सफल फिल्म है तो यह बात कहीं फिर उस बात को दुहराती है कि फिल्म में ऐसा कुछ और है जिसके प्रति हम आकृष्ट होते है।

ज्यादातर फिल्में यदि कुछ पाती है तो वह पाना सिर्फ इतना है कि वे इस भ्रम को बेचने में सफल है कि वे आधुनिक युग का चमत्कार है या वे वह सब कह रही है जो आज से पहले नहीं कहा गया, या कि वे बिल्कुल नयी हैं इसलिए सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है कला की । यदि ऐसे कारण हों और वे हमें प्रभावित भी करें तो फिल्मों में ऐसा कुछ देखने का धोखा हो जाता है जो इन फिल्मों में होता भी नहीं । दुर्भाग्य यह है कि यदि हमारी प्रतिक्रिया उन बातों के लिए होती है जो फिल्मों में नहीं है तो हम जो कुछ उसमें होता है उस पर कोई प्रतिक्रिया नहीं कर पाते । क्रेमलिन लेटर्स इसका एक उदाहरण है। यह एक हॉरर फिल्म है इसलिए इसके गुण अनदेखे रह गये हैं । यह तथ्य भी कि इसमें बीबी एंडरसन, रिचर्ड बून, पैट्रिक ओनील, जार्ज सांडर्स, मैक्स वान साइडो और आरसन वेल्स जैसे सितारों ने काम किया है या यह फिल्म जान ह्यूस्टन द्वारा लिखी और निर्देशित की गयी है, इस फिल्म को एक सफल और चर्चित फिल्म बनाने में असफल रहे। ऊपरी सतह पर एक जासूसी फिल्म दिखने की वजह से यह फिल्म कला फिल्मों के प्रबुद्ध दर्शकों को आकर्षित न कर सकी और न ही रोमांचप्रिय दर्शकों को लुभा सकी चूंकि यह मार-धाड़ से भरी बांड फिल्म भी नहीं है। क्रेमलिन लेटर्स की असफलता इस बात का प्रमाण है कि किस तरह फिल्म के अभिनय, निर्देशन, तकनीक, कहानी और सामाजिक सरोकारों पर लिए गये निर्णय अधूरे अपूर्ण और धोखा देने वाले होते है। यह सचमुच दुर्भाग्य की बात है कि-बहुत कम लोग क्रेमलिन लेटर्स देखने के लिए प्रेरित हुए हैं ओर बहुत कम आलोचकों ने इस फिल्म को जो कि वह वस्तुतः है, के आधार पर



परखा है। चूंकि एक अच्छी फिल्म होने के साथ-साथ यह एक हॉरर फ़िल्म भी है, यह फ़िल्म के कथानक की जटिलताओं को कलागत समस्या के रूप में लेती है और इन कलागत समस्याओं का समाधान फ़िल्म के संवादों को, उसके हर शॉट को, उसके हर कट को अर्थों की अलग गहराई देता है। कथानक को सीधा-सरल करने के बजाय निर्देशक फ़िल्म तकनीक को एक शैलीगत आयाम देता है। समय क़ाल और कथा की संलिश्ष्टता के स्थान पर फ़िल्म एक होती है, लगातार बनते आवेग से, जो अलग-अलग स्थान पर हो रहें खण्डों की गति से बनता है।

यदि फ़िल्म को इन खण्डों के योग की संपूर्णता में न देखा जाये तो यह फ़िल्म सिर्फ यौन हिंसा, क्रूरता का जमघट लगेगी । लेकिन ये सभी बातें कहीं भी बगैर संदर्भ नहीं हैं और न बिल्कुल साफ और घटिया तरीके से हैं। हम रोमांचकारी और क्रूर घटनाओं की श्रृंखला अपनी आंखों के सामने से गुजरते नहीं देखते बल्कि विकृत, हिंसा और मृत्यु के एक संसार में फस जाने का अनुभव हमें होता है। सिर्फ ऐसे एक संसार को दिखाना बगैर उन चरित्रों के जो हॉरर फिल्मों से साधारणतः जुड़े होते हैं, **क्रेमलिन लेटर्स** एक साहसिक प्रयोग है। एक ऐसा प्रयोग जो बहुत से लोग नहीं करना चाहेंगे । यह अंतर्राष्ट्रीय जासूसी की कथा नहीं है और न ही उस राजनीति की जो इन बातों के मूल में होती है। ये सभी बातें हैं फिल्म में लेकिन सिर्फ फिल्म के लिए । फिल्म का पूरा गठन इसके अवयवों का समय में जुड़ना, वो बातें हैं जो **क्रेमलिन लेटर्स** को एक भयावह मगर सुन्दर फिल्म बनाती है। लेकिन फार्म की यह श्रेष्ठता स्वीकार करना एक कठिन काम है चूंकि लोग यह सौन्दर्य उस जगह स्वीकार नहीं कर पाते जिस जगह फिल्म का मुख्य उद्देश्य कुरूपता, तकलीफ

और भयावहता पैदा करना हो ।

भयावहता का विन्यास

हत्या कथाएं, जासूसी कथाएं, अंतर्राष्ट्रीय जासूसी कहानियां जैसी कितनी फ़िल्म किस्में हैं जो वही साधन उपयोग में लाती हैं जिस तरह हॉरर फिल्में । ये सभी फिल्में अपने फार्म में ही अपनी विषय वस्तु बनाती है लेकिन यह इन फिल्मों पर ही निर्भर है कि हॉरर फ़िल्मों में उपयुक्त साधनों का प्रयोग करें या क्रेमलिन लेटर्स और साइको की तरह पूर्णरूप से भयावहता की रचनाएं बनें । फिल्म में रहस्य और गोपन के संकेत फ़िल्म का आरंभ तो हो सकते हैं लेकिन स्वयं ये संकेत भयावहता नहीं पैदा करते । हत्या या जासूसी कथाएँ जैसे लेनी की कैट एण्ड द कैनरी, वेस्ट की बैट विस्परर्स या घ्राम्ह की लाजर ऐसी फिल्में हैं जो इस रूप में विन्यस्त हुई है जिसमें भयावहता प्रमुख नहीं है। फ़िल्म के कुछ हिस्सों में भयावहता हो सकती है, कुछ पात्र भी नाटकीयढ़ंग से भयावहता से दो-चार हो सकते है लेकिन इन फ़िल्मों के लिए ऐसे हिस्सों का कोई तार्किक उत्तर या संकेत जरूरी है या ऐसा कोई संकेत जो बाद में पीछे मुड़नें पर समझ में आये पर ऐसे संकेत इन फ़िल्मों के लिए निहायत जरूरी होते है ।

दूसरी ओर हॉरर फ़िल्म किन्ही खास घटनाओं की श्रृंखला नहीं होती बल्कि इसमें कुछ खास तरह की क्रियाओं की संलिष्टता होती है। यह संलिष्टता जीवन की संलिष्टता से अलग है जैसे कि किसी विक्षिप्त वैज्ञानिक का जीवन । उस क्रिया से भी अलग है जो वह चरित्र करता है, जैसे अपराध । उस स्थान से भी अलग है जहां यह सब होता है जैसे सूनसान महल । उस काल से भी अलग है जहां इस विक्षिप्त वैज्ञानिक को इस महल में अपराध करने के लिए विवश होना पड़ा । इसी तरह बिल्कुल सही चरित्र निरूपण, कथानक, वातावरण का पूरेपन में पकड़ना, अद्भुत कैमर और संपादन जैसी बातें भयावहता पैदा करने में सहायक हो सकती है लेकिन वे इस तरह के सृजन के लिए गौण है । चूंकि इन सब बातों के होने के बावजूद यदि फ़िल्म के केंद्रीय बिंदु में कोई गुण नहीं है तो फ़िल्म अच्छी फ़िल्म नहीं बन सकती । साइको और सीगल की फ़िल्म इनवेजन ऑफ बॉडी स्नैचर्स ऐसी फ़िल्में है जो फ़िल्मगत कमियों का इस्तेमाल भयावहता पैदा करने के लिए करती है। इनवेजन ऑफ बॉडी स्नेचर्स में यह बात नहीं खलती कि उस लड़की का व्यक्तित्व नष्ट कर दिया जाता है और दूसरे व्यक्तित्व द्वारा हमारी आँखों के आगे बदल दिया जाता है, जबकि इसके पहले के सभी शिकारों का न सिर्फ व्यक्तित्व बदलता है बल्कि शरीर भी बदल जाता है। हमें यह बदलाव फ़िल्म के गुणों और विश्वसनीयता से दूर नही ले जाता बल्कि यह उसकी भयावहता में वृद्धि करता है । इसी तरह साइको में एक बड़ी अभिनेत्री जेनेट ले का फ़िल्म की पहली तिहाई में मारा जाना बुरा नहीं लगता । बल्कि फ़िल्म का जेनेट के बगैर आगे बढ़ना हमें यह बताता है कि फ़िल्म से हमारे सरोकार क्या होने चाहिए और क्या नहीं।

फ़िल्म में कम या ज्यादा शॉटों की संख्या से ज्यादा महत्वपूर्ण है उन शॉटों का उस पूरे के प्रति दायित्व जिनके वे हिस्से है। हर शॉट को फिल्म की पूर्णता, उसके अंतर्संबंधों को दर्शाना चाहिये। शॉट बिल्कुल अनोखे कैमरा कोण से लिये गये हो सकते है जो एक खास नजरिया दिखायें, या कि सामान्य शॉट में चलते हुए कैमरे से बदलती रौशनी, घूमते अभिनेता, बदलते पार्श्व स्वरों के प्रयोग से पूरी क्रिया में खोई, खास अंदाज पैदा करे जो सामान्य क्रियाकलाप को खास अर्थ दें। हर सफल फिल्म में हर शॉट फ़िल्म के पूरेपन को उसके चरित्रों के विशेष गुणों को पकड़ता है जो शॉट को एक खास अर्थ देता है। यहाँ यह मतलब नहीं है कि हॉरर फिल्म का हर दूसरा शॉट कटे हुए हाथ - पैरें या खून पीने वाले शैतान को दिखाये लेकिन पूरी फिल्म में भयावहता की एक धारा का अहसास होना चाहिये, जैसे कि रहस्यात्मकता का या हास्य की धारा का अहसास रहस्य और हास्य की फ़िल्मों में होता है। यह लगातार अहसास ही फिल्म के कथानक, उसके चरित्रों को वह कारण प्रदान करता है जिसके तहत कथानक के अवयव खुलते हैं। साथ ही यहां यह अर्थ भी नहीं है कि हर शॉट एक खास तरह का ही भाव अपने भीतर रखे। **हिचकॉक की सबसे** अधिक रोमांचक फिल्में **39 स्टेप्स या नार्थ वाय नार्थवेस्ट** बहुत ज्यादा हास्य का उपयोग करती है वैसे ही **प्रेस्टन स्टर्ज** की हास्य फिल्में **सुलिवनंस ट्रेवल या मिरेकल एट मोरगन क्रीक** रहस्य और रोमांच पर टिकी है **वेल** की **ब्राइड ऑफ फ्रेंकस्टाइन** और **इनविजिबलमैन, फ्राउंड** की **मैड लव** हॉरर फिल्म होने के बावजूद हास्य और रहस्य का उपयोग करती है। इसी तरह **फ्रेंकहीमर** की **सेकेन्ड्स शूड्सक की मोस्ट डेंजरस गेम, या ड्रेकुला** बहुत अधिक नाटकीय फिल्मे है।

भयावहता ; नाटकीयता, हास्य, या रहस्य की तरह फिल्म के निर्माण का मुख्य हिस्सा नहीं होना चाहिए । **साइको** या दूसरी फिल्में जो हॉरर फिल्मों की श्रेणी में नहीं रखी जाती है जैसे **क्रेमलिन लेटर्स** या **ह्यस्टन** की **ए वाक विथ लव एन्ड डेथ, ग्रांक्स** की **जे एक्युस** या **फ्लीशर** की **द बोस्टन स्ट्रेंगल** इन सभी फिल्मों में भयावहता का एहसास या अवयव काफी बारीक और प्रच्छन्न है। इन फिल्मों में भयावहता कथानक के अनोखे अन्दाज में बढ़ने से आती है। उदाहरण के लिए **क्रेमलिन लेटर्स** में कोई भी चरित्र अपने जीवन या वातावरण को निर्धारित कर सकने, उस पर काबू पाने की स्थिति में नहीं है। कोई भी चरित्र यह बताने की स्थिति में नहीं है कि कौन उसका शत्रु है या कौन मित्र, कोई अनजानी क्रूर और बेहद होशियार ताकत है जो चरित्रों को अपना जीवन देने, अपने प्रियजनों से दूर करने को बाध्य करती है। शतरंज के मुहरों की तरह ये चरित्र एक से दूसरी भयावह स्थितियों में सरकाए जाते है । कुछ ही देर में हम भी अपने आप को नितान्त अकेला और अरक्षित पाते हैं। ऐसी फिल्मों को भयावहता के हिसाब से सबसे अच्छी तरह समझाया जा सकता है। इसी बिन्दु से इनकी आलोचना होनी चाहिये चूंकि लगातार ऐसी न समझी-समझाई जा सकने वाली स्थितियों का उद्घाटन जिनके पीछे एक साफ नियति और शक्ति हो और उसका

चरित्रों और कथानक पर प्रभाव दिखे यह भयावहता ही पैदा करता है। यह अपरिभाषित न समझ में आने वाली स्थितियां सोच-समझ कर फिल्मों में होती है। ये स्थितियां कार्य-कारण की तार्किक कड़ी को तोड़ती है।

मनोवैज्ञानिक आधार - शक्तिहीन होने का भय

सभी तरह की फ़िल्मों के दो सबसे अधिक लोकप्रिय विषय है मृत्यु और प्रेम और शायद विडंबना है कि ये विषय सबसे अधिक जुड़े हुए भी हैं और हॉरर फ़िल्मों को सबसे अधिक प्रिय है हिसांत्मक मृत्यु और लगभग विचित्र तरह का प्रेम। चूंकि हम सब मृत्यु के भय से जकड़े हुए हैं इसलिए हत्या की लंबे विवरण की प्रस्तुति हममे उत्सुकता जगाती है। लेकिन सिर्फ़ मृत्यु का भय जगाना भयावहता पैदा करने के लिए काफी नहीं है, भयावहता पैदा करने के लिए डर को एक खास तरह से इस्तेमाल करना होता है। जैसे साइको के हत्या के हिस्से न फ़िल्म के मुख्य हिस्से हैं और न निर्देशकीय ऊंचाई के मुकाम । फिल्म समय के भीतर की एक संरचना है, इसका उद्देश्य हत्या के हिस्सों को प्रस्तुत करने से कुछ अधिक है। साइको इस तरह से चित्रित और संपादित नहीं की गई है कि ये हिस्से शैलीगत रूप से उभरें । हालांकि हत्या के ये हिस्से चौंकाते जरूर हैं लेकिन ये फ़िल्म के बाहर से आये हुए हिस्से नहीं लगते चूंकि ये पूरी फिल्म के गठन और संरचना से जुड़े हैं और कार्यकारण की एक ऐसी श्रृंखला के हिस्से है जो फिल्म के दूसरे हिस्सों से जुडते हैं। यदि फ़िल्म को हमारे भीतर भय पैदा करना है तो उसे उन सभी अवयवों का उपयोग करना होगा सचमुच भयोत्पादक हैं, साइको में सिर्फ एक पुराना अंधेरा घर नहीं है बल्कि नार्मन जैसे व्यक्ति का पागलपन भी है जो उस घर में रहता है, सिर्फ हत्या नहीं पर एक ऐसी मौत है जिसकी कोई चेतावनी नहीं, जिसमें कोई बचाव नहीं जिससे कोई सुरक्षा नहीं।

यह तथ्य कि दर्शक ऐसी फ़िल्में खोजते है, देखते है और उनका आंनद उठाते है जो उनमें भय पैदा करने के लिए बनायी जाती है, दर्शकों के भीतर भय पैदा करने वाली स्थितियों के विषय में काफी कुछ बताता है। एक तरह से ये फ़िल्में उन लोगों के विषय में बताती हैं जो इनका आंनद लेते है और तर्क के आधार पर सामान्य लोगों के विषय में भी सामान्यतः कुछ बताती है। सफल हॉरर फ़िल्मों के महलों अप्राकृतिक चमत्कारों के आवरण के पीछे कुछ कम साफ लेकिन उतने ही महत्वपूर्ण कथानक है। जैसे सपनों के पीछे की ताकत, ये ऐसे कथानक है जो मनोवैज्ञानिक कारणो से पसन्द किये जाते हैं और उन्हीं से शक्ति पाते है। भयावहता का सौदर्यशास्त्र मनोविज्ञान का मूर्तिकरण है सिर्फ असमान्य मनोविज्ञान नहीं बल्कि समूचे मानव व्यवहार और अनुभव के मनोविज्ञान का मूर्तिकरण। हॉरर फ़िल्मों का विश्लेपण करना है जो वे अपने आस-पास के संसार से रखती हैं। उनका विश्लेषण उनके अन्दर के व्यापार के साथ अपने अन्दर के व्यापार का भी विश्लेषण है।

सामान्यतः हॉरर फ़िल्मों में काम कर रही शक्ति हमारे भीतर अनजाने के भय को जगाने

वाली शक्ति के रुप में परिभाषित की जा सकती है, अपने आप को, अपने वातावरण के नियंत्रण में न पाने के भय को जगाने की ताकत। इस भय के सबसे आसान उदाहरण भयावह जीव और दुस्वप्न की वे स्थितियाँ हैं जहाँ बातें हमारी समझ और नियंत्रण के बाहर होती हैं। लेकिन ऐसा समझने की कतई जरूरत नहीं कि भयावह का वास्ता सिर्फ अतिप्राकृतिक से ही है। सामान्य स्थितियों और विज्ञान की सीमाओं के परे ही भयावहता जागे, ऐसा आवश्यक नहीं है। हालाँकि अतिप्राकृतिक विषयों की हॉरर फिल्मों में भरमार और पारस्परिक रूप से अतिप्राकृतिक से भयावह का जुड़ा होना इस बात की पुष्टि तो करता है लेकिन हमें दूसरे पहलुओं को नजर अन्दाज नहीं करना चाहिए, न उन फिल्मों को दूसरे तरीकों से भयावहता उत्पन्न करने में सफलल रही हैं। तर्क और समझ के परे की स्थितियाँ भी उतनी ही प्रभावोत्पादक होती है जिनमें मुख्य चरित्र जानता तो है कि क्या हो रहा है और क्यों हो रहा है। वह यह भी जानता है कि इन बातों का क्या परिणाम होगा लेकिन फिर भी वह अपनी नियति बदलने में असमर्थ है जैसा कि 'सेकेन्डस' या 'क्रेमलिन लेटर्स' में हुआ है। भय पैदा करने वाली बात वहाँ है जहाँ लगातार इस बात का अहसास होता रहे कि मुक्ति का हर रास्ता बन्द हो रहा है और फिर कोई सुरक्षा न रहे, सुरक्षा की आशा तक न रहे। टूर्नूर की फिल्म 'द कर्स आफ द डेमन' के पहले ही सीन में घबराये हुए व्यक्ति का भय हम तक पंहुचता है जबकि तब तक हमारे पास उस भय को महसूस करने का कोई आधार नहीं होता। किसी अनजानी खोज या हादसे के कारण जैसा कि 'द इनवेजन आफ बाडी स्नैचर' में होता है, अचानक हमें उन भयावह स्थितियों का पता चलता है। नियंत्रण में रहने वाली स्थितियों में अचानक बदलाव भी भयावहता पैदा करता है। 'लीक' में रस्से पर चलने वाली लड़की समझती है कि उसने असमान्य लोगों से अपना अपराध छुपा लिया है, जैसा केंटन की फिल्म 'आईलैंड ऑफ लॉस्ट सोलस' में डॉक्टर माराऊ समझता है कि उसने अपनी कृति और द्वीप दुनिया की नजरों से छुपा लिया है। लेकिन कुछ हादसों और कुछ अनजाने में जब पता चलता है कि वे दोनों गलत सोच रहे थे तो फिर इस प्रक्रिया में उनका और हमारा सामना होता है, भयावहता से।

कला ने यह हरदम दिखाया है कि मानव के भीतर की संहारक शक्तियाँ उसके व्यक्तित्व और उसकी बाहरी दुनियां का हिस्सा है। लगभग अनजाने तरीके से हार फिल्में इस वैचारिक प्रत्यय को नाटकीयता देती रही हैं, एक विरोधाभासी बिन्दु द्वारा। जैसे **ब्लैक कैट** में दो तरह के विरोधी व्यक्तियों को दिखाया गया है, **साइको** में दो तरह की मानसिक स्थितियाँ दर्शायी गयी हैं, **मर्नाऊ के फॉस्ट** या **मामूलियन के जैकिल एंड हाइड** में एक व्यक्तित्व दो शरीरों में बंट गया है और **ड्रैकुला** या **आइलैंड ऑफ लॉस्ट सोलस** में दो तरह के लोग हैं मनुष्ट और मनुष्य से कमतर लोग। हर उदाहरण में दो ताकतें हैं जो एक दूसरे के विरोध में हैं और इस विरोध से एक दूसरे को परिभाषित करती हैं। हॉरर फिल्में अपने कथानक और चरित्रों पर लगभग सामान्य नैतिक फैसले देने से बचती हैं इसलिए वे

अपराध बोध जैसे गहरे विषयों से भिड़ती है। मृत्यु और जीवन पर बात करती हैं। बहुत ही सामान्य सी हॉरर फिल्म भी लगभग वही प्रश्न पूछती है जो महान कलाकृतियाँ पूछती हैं। हारर फ़िल्में हमारे भीतर अपने प्रति जो उत्सुकता जगाती हैं शायद वह यह बताता है कि कहीं ये फ़िल्में प्रश्नों के उत्तर भी देती है।

फॉस्ट या सेकेन्ड्स जैसी फ़िल्मों में शक्तिहीनता के भय की अनुभूति इस तरह हावी है कि मृत्यु के भय को भी दवा देती है और हमें यह देखने को मजबूर होना पड़ता है कि जैवकीय जीवन से कुछ ज्यादा बचाने की हम कोशिश कर रहे हैं। **किंग कांग** जैसा जीव या **मोस्ट डेंजरस गेम** का जारोफ डरावने हो सकते हैं लेकिन उतने भयावह नहीं जहाँ हम देख तो रहे होते हैं पर समझ नहीं पाते जैसे **इनवेजन ऑफ बॉडी स्नैचर** , **ड्रैकुला** या **थार्नियर की आई वाक्ड विथ ए जोम्बी** में या जैसे किसी संगठन की शक्ति का अंदाजा हमें मिलता है **सेकेन्डस** में या अंतर्राष्ट्रीय जासूसी के गठबंधन दिखते हैं **मंचूरियन कंडिडेट** में। किसी और के शरीर को धारण करने के भय से सामना होता है **ब्लैक कैट, साइको, मोस्ट डेंजरसगेम** में। यह भय **मैड लव** में मोम की गुड़िया में, **आई वाक्ड विथ ए जोम्बी** में वूड् की गुडियां में और **आइलैंड ऑफ लॉस्ट सोलस** या **फ्रांजू की हारर चेंबर ऑफ डाक्टर फास्टस** में विरूपता में प्रकट होता है। अपने व्यक्तिगत और आत्म के नियंत्रण में न रहना इतना भयावह ख्याल है कि उसका शारिरिक प्रकटन हुए बगैर भी डर पैदा होता है जैसा कि **ड्रेयर की डे ऑफ रैथ** में हुआ है,यहां इस बात के संकेत सिर्फ संवादों के जरिये दिए गये है। ये सभी संभावनाएं मुक्ति द्वारा अपनी शारिरिक और मानसिक सुरक्षा के प्रति उसकी चिन्ता को दर्शाती है। हम इस शारीरिक,मानसिक और आत्मिक पूर्णता पर आक्रमण होता महसूस करते हैं जब हमें नाटकीय तरीके से यह दिखाया जाता है कि कोई व्यक्ति अपना अव्यक्तित्व बचाने में सफल नहीं हो पा रहा है।

पशुता के खतरे, इड का भय

हॉरर फिल्में अमानवीयता की उस सम्भावना को तार्किक अंत तक ले जाने का बेहतर साधन होती है जो फिल्मों की और किस्मों में भी निहित होता है.अमानवीयकरण की सही सम्भावना **लोसी** की फिल्मों **द सर्वेन्ट** और **एक्सीडेंट** में जहां एक पूरा परिवार आदिम पशुवत स्थितियों की ओर लौटता है,या **विस्काती की द डैक्स** में जहां एक पूरी सभ्यता का प्रतीकात्मक पतन दिखता है जैसा कि हिचकाक की **लाइफबोट** या **ब्रुक की लार्ड ऑफ द फ्लाई** में भी दिखता है। हॉरर फिल्मों में यह अमानवीयकरण की प्रक्रिया पशुता की ओर मुड़ती है। यह प्रक्रिया मनुष्यों को भेड़ियों और मनुष्यों से कुछ और आदिम बनाने की प्रक्रिया है या **आइलैड ऑफ द लॉस्ट सोल** या **शेफनर** की **प्लेनेट ऑफ द एप्स** में पशुओं को पशुओं से अधिक बनाने की प्रक्रिया है।

पशुओं और विकृत मनुष्यों के बीच अन्तर पैदा करने के लिए एक या दो तरीके अपनाये जाते है। पहले में किसी सभ्य सामाजिक मनुष्य को पशुवत बनाने के लिए किसी मंत्रशक्ति

का प्रयोग किया जाता है जैसे कि **कैट पीचुन** में,या किसी दवा का जैसे डा.जैकिल और मिस्टर हाइक में,या बीमारी का (मानसिक या शारीरिक) जैसे ड्रेयर की **वैम्पायर नास्फरेत या ड्राकुला** में । अपने सामान्य जीवन में ये सभी व्यक्ति उस नष्ट करने वाले मनोभाव को रोक सकते हैं। दूसरे तरीके में पशुवत यौनता पर बल दिया जाता है। इसमें सबसे अधिक और सामान्य उपयोग होता है किसी नारी पात्र का किसी पशुवत पुरूष से भय । फिल्मों के ये शैतानी चरित्र ज्यादातर पुरूप ही होते है कुछ अपवादों को छोड़कर जैसे **कैट पीपुल** में लड़की खूखार स्त्री गुणों का साकार चरित्र बन जाती है। इन खूंखार चरित्रों का आक्रमक रूख यौन ही होता है। **नास्फरेत् या ड्राकुला** जैसी फिल्मों मुख्य भय मृत्यु का न हो कर खून पीने वाले शैतान की यौन विजय का है। **जैकिब और हाइड** में हाइड का चरित्र एप की तरह है जो असामान्य रूप से यौनोविजित है । **फ्रैकस्टाइन** में गांव वालों का भय बच्चों के प्रति उसके असामान्य यौंन व्यवहार से जुड़ा है। ऐसी सभी स्थितियों में भयावहता पैदा करने वाला तत्व है,एक साथ उन दोनों इच्छाओं का रहना जिसमें हम इन असामान्य कृत्यों को करना भी चाहते हैं और यह भय भी रहता है कि हम अपने इड पर से नियंत्रण खो देगें,और यह इड हमारा सकल व्यक्तित्व बन जायेगा।

इस पक्ष का एक ज्यादा हिलानेवाला और भयोत्मदिक प्रकारान्तर है,किसी और के नियंत्रण में रहना और न सिर्फ अपने इड पर से नियंत्रण खोना बल्कि अपने पूरे व्यक्तित्व,अपने आत्म से नियंत्रण खोना । फिल्मों में यह भय कुछ हिस्सों में यौन होता है पर यह यौनेच्छा से कुछ अधिक होता है। यह रूमानी या यौन खिंचाव की चेतन या अचेतन विकृति है। **डे ऑफ रैथ** के संसार में प्रेम और यौन अनजाने है इसलिए डर को बात है।यौनेच्छा के न समझे गये पहलू यहाँ किसी दानव या शैतान जैसे डरावने हो जाते है और जादू-टोना समझे जाते है । जब कोई व्यक्ति यौनेच्छा से ग्रस्त होता है जैसा कि इस फिल्म का बूढा पति अपनी पत्नी के प्रति होता है तो वह इसे अपने से बाहर की किसी शक्ति का काम समझता है। वह समझता है कि यह उसका कार्य नहीं है और वह किसी और के नियंत्रण में है।

ईश्वर बनने की मानसिक विकृति भी हॉरर फिल्मों का हिस्सा होती है। **द मोस्ट डेंजरस गेम** में जारोफ,माराऊ **आइलैंड ऑफ लॉस्ट सोल** में और डाक्टर प्रेरोरियस **द ब्राइड ऑफ फ्रैकंस्टाइन** में इस बात के उदाहरण हैं। ये सभी ईश्वर बनने की अपनी इच्छा इन फिल्मों में व्यक्त करते हैं। यह बात दूसरी फिल्मों में भी है। **द मैजिशियन द कैबिनेट ऑफ डाक्टर कनर्लगरी, द इन विजबल मैन, फिशर की द मैन हू कुड चीट डेथ** में या **मंचरियन कैंडिडेट** में भी के व्यहार में या "सेकेन्डस" में बूढे व्यक्ति के व्यवहार में ईश्वर बनाने की यह इच्छा प्रदर्शित होती है। ताकत की इच्छा रखना अपने आप में भयावह नहीं है। यह इच्छा भयावह तब बनती है जब कोई इस ताकत के पीछे पागल हो जाता है,जब कोई ऐसी स्वतन्त्रता की बात करता है जो अकल्पनीय है,या जब कोई प्रकृति के विरूद्ध हो जाता

है,लगभग पाप करने लगता है,या ऐसी शक्तियों की बात करने लगता है जो मानव के परे हो,तब यह विषय उन विश्वासों की परीक्षा बन जाता है जिनके आधार पर जीवन जिया जाता है,तब यह आस्था का प्रश्न बन जाता है । हम आमतौर पर इतने अधिक सामाजिक हो चले है कि सामाजिकता की इस दिशा और आधार पर कभी ही प्रश्न करते हों । हम अपने सामाजिक मूल्यों और पूर्वाग्रहों में इस कदर कैद हैं कि शायद ही कभी हम दूसरे का दृष्टिकोण देखते हों, उसके औचित्य के विषय में सोचते हों । यहीं कारण हैं कि सामाजिक धार्मिक और राजनीतिक विश्वासों पर सीधे हमले असरदार नहीं होते । लेकिन हारर फ़िल्में इन स्थितियों को नाटकीय बना कर इनके अन्तर्विरोध और कमजोरियाँ, चरित्रों और कथानक के माध्यम से सामने लाती हैं । यह वह स्थिति होती है जहाँ हम अपने विश्वासों का आलोचनात्मक ढंग से सामना कर सकते हैं जो कि सहज नहीं होता । **ब्राइड ऑफ फ्रैंकस्टाइन** जैसी फ़िल्म में यह स्थिति हास्य पैदा करती हैं चूंकि इस फिल्म में हास्यस्पद पूर्वाग्रहों वाले व्यक्तियों के जमघट के अलावा कुछ और नहीं है । दूसरी तरफ **आइलैंड ऑफ लॉस्ट सोल** जैसी फ़िल्म में यह स्थिति पूर्वतः शयवहता पैदा करती हैं । यहाँ जब पशुओं का समाज समाप्त होता है । तो यह पूर्ण पशुता के नियम को मानो तार्किक परिणति तक ले जाता है ।

डे ऑफ रैथ का समाज इस कदर बन्द समाज है कि इसके विश्वासों के विनाश की पहचान सिर्फ यौन व्यापार की विकृति से ही समझ में आती है । विक्टोरियाई यौनाचार के व्यंगात्मक रूपक से ऐसे ही यौन संसार के दर्शन होते हैं **नास्फ़ेरत्, ड्राकुला** और **आइलैंड ऑफ लॉस्ट सोल** में । यौन धारणा की गलत समझ एक व्यक्ति की विकृति से भी दिखायी जा सकती है । **ब्लैक कैट** में कारलॉफ का चरित्र अपनी पूर्व पत्नियाँ के शव सुरक्षित रखता है और अपनी पुत्री के विवाह करता है । यह घटना बुरी तरह चौंकाने वाली तो हैं साथ ही समयातीत वर्जना तोड़ने का एक रहस्यात्मक प्रयास भी है । **'मैड लव', डॉक्टर गोगोल** में एक ऐसा संसार रचता है जो सामाजिक रूप से उसे स्वीकृति देता है और उसके विरूप के प्रति मोह को भी पूरा करता है । वह एक प्लास्टिक सर्जन बन जाता है । दूसरी ओर **साइको** में नारमन बेट्स अपने व्यक्तित्व के एक हिस्से को दूसरे हिस्से से छुपाने के लिए एक अन्दरूनी दीवार बनाता हैं । उसके व्यक्तित्व के दोनों हिस्सों की कुंठाएँ साफ होती हैं चूंकि वे मेरिअन और उसके प्रेमी की कुंठाओं के समानन्तर होती हैं । मेरिअन की चोरी, उसकी शादी और परिवार से दूर जाने की सामान्य इच्छाओं से उपजती हैं । इसके बरक्स नारमन बेट्स के हत्या के अपराध ऐसी यौनेच्छाओं से उपजतें हैं जो मेरिअन की ही जैसी हैं । पर कहीं विकृत हैं । उसमें यौनेच्छा है पर वह उससे भयभीत है । इसके उत्तर में वह उसकी हत्या करता है जो उसकी यौनशक्ति को तृप्त भी करती हैं और उसे मुख्य यौन व्यापार में दूर भी रखती है । इस तरह मेरिअन और नभिन की जिन्दगियाँ जो दिखाती हैं वह एक दूसरे के समान्तर है और एक दूसरे का विरोधाभासी भी । हॉरर फ़िल्मों का इस

तरह का विरोधाभासी बिन्दु कहीं से विक्षिप्तता और सामान्य के अन्तर को भी रेखांकित करता है।

अस्वीकार और सम्पूर्णता का भय

हॉरर फिल्मों में बिल्कुल साफ और घोषित तरीके से न पाये जाने वाले भयों में एक है अस्वीकार का भय । यह भय पूरी तरह दूसरी बातों को आच्छादित करने वाला भय है, अपने आस-पास से कटने का डर, अपने स्वजनों द्वारा अस्वीकार किए जाने का डर । जिस तरह मृत्यु का भय उन बातों की ओर ध्यान खींचता है जिनसे जीवन समाप्त हो सकता है, उसी तरह बेगानेपन का डर उन बातों को रेखांकित करता है जिनके सहारे हम अपना मनुष्य होना परिभाषित करते हैं। किसी भी अच्छी फ़िल्म के दृश्य की तरह बांधने वाला है फिल्म **इनवेजन ऑफ बॉडी स्नेचर** का वह दृश्य जहाँ लड़की का पूरा व्यक्तित्व हमारी और उसके प्रेमी की आँखों के आगे बदल जाता है बल्कि यह बदलाव दोनों के बीच एक चुम्बन के वक्त होता है। **वैम्पायर**के इसी तरह के एक दृश्य में एक बहन जो वैम्पायर द्वारा ग्रसित हो चुकी है उसको रोकने के प्रयास करते हैं,जिससे उसकी बहन भी इसी तरह ग्रस्त न हो जाये । इन दोनों ही उदाहरणों में सिर्फ एक शॉट में वह सब कुछ,जिसे विश्वास और प्रेम समझा जाता है, नष्ट हो जाता है. अलगाव के इस भय का चित्रण दोनों ही स्थानों पर प्रभावशाली है। **ब्लैक कैट** और **मोस्ट डेंजरस** में युवा दम्पति उस समाज से कट जाते है जिसे वे समझ सकते थे,जिसमें जीना उन्हें आता था। इसके बदले अचानक वे अपने आप को ऐसे विचित्र और अनजाने समाज मे पाते है जिनके कायदे कानून उनकी समझ से परे हैं। जब तक वे इन नियमों को समझ न लें तब तक वे एक ऐसी ताकत के कब्जे में हैं जो उनकी समझ के बाहर है। दूसरी तरफ **डे ऑफ रैथ** में यह तथ्य कि एक व्यक्ति अपने साथियों से अधिक समझ पा रहा है इस अनजानी ताकत को, उसे अपने साथियों से दूर करता है या **कैट पीपुल** और **इनवेजन ऑफ बॉडी स्नैचर** में यही तथ्य उसे मनोवैज्ञानिक मदद लेने के लिए मजबूर करता है। किसी समाज में समझे जा सकने की पारस्परिक परिभाषा से अधिक समझने वाला उस समाज द्वारा पागल करार दिया जाता है या जैसा कि **डे ऑफ रैथ** में होता है। इस तरह के कार्यों को सिर्फ देखा जाना हमारे भीतर भयावहता पैदा करता है। यह खतरा हमेशा बना रहता है कि उस दुनिया के कायदों को जानना या उसके विषय में उचित विचार रखना भी इस बात से बचाव नहीं कर सकते कि अचानक आप बेगाने हो जायें। उस दुनिया से, उस समाज से, जिसमें आप पैदा हुए है। **ब्राइड ऑफ फ्रैंकस्टाइन** का दानव और **इनविजिबल मैन** का डॉक्टर सिर्फ इसलिए अस्वीकृत होते हैं अपने संसार में चूँकि वे मूर्तिमान करते है न समझी जाने वाली ताकतों को । वे इस अस्वीकृति के कारण हमारे भीतर करुणा जगाते है और हमें खतरा नहीं लगते । बल्कि गाँव के मोटे तगड़े किसान चीखती औरतें और पुलिस हमारे लिए दानव बन जाते हैं। हमें अचानक लगता है कि यदि वे लोग व्यवहार के पारम्परिक ढांचे से

अलग होने के कारण कुछ लोगों पर आक्रमण कर सकते हैं तो शायद हमारे ऊपर भी उनका आक्रमण हो सकता है।

हॉरर फिल्मों में भय सामाजिक और मनोवैज्ञानिक कथानकों से उपजता है । **कांउट ड्रेकुला** का गाँव वालों पर नियंत्रण या **डॉक्टर माराऊ** जीवों पर अधिपत्य सामाजिक वर्गभेद का परिणाम है। भयावहता के ये खलनायक अपने अपराधों से दूर जा पाते हैं तो सिर्फ इस लिए चूँकि वे ड्रेकुला या बैरन फ्रेंकस्टाइन की तरह सामन्त है जिनकी आज्ञा सहज रूप में मानी जाती है, या उन्होंने वैज्ञानिक या डॉक्टर होने के नाते समाज में एक खास हैसियत पा ली है। जैसे जैकिल या डॉक्टर गोगोल **मैड लव** में, या माराऊ की तरह धनवान है जो बाहरी दुनिया में अस्वीकृत लोगों को खरीद सकते हैं। दूसरी तरफ है**इनविजबल मैन** का वैज्ञानिक जो अपने प्रयोग में तो सफल होता है लेकिन परम्परा से बंधे आदमी पर काबू नही पा सकता । हॉरर फिल्मों के कथानक में एक बात मुख्य होती है जिसमें बन्धनविहीन स्वतन्त्रता एक व्यक्ति के लिए होती है और दूसरों के लिए सख्त कानून । **इनवेजन ऑफ बाडी स्नैचर** में एक ऐसा ही भय है जिसमें एक संपूर्ण नियंत्रित समाज का नक्शा है। जिसमें आदमी व्यक्तित्व विहीन है और हर आदमी अपने समाजी दायरे में बंधा है।

फिल्म का संसार चाहे कितना भी विकृत और विचित्र हो लेकिन फिर भी एक वृहत्तर बाह्य संसार की स्मृति के साथ वह होता है। **साइको** में एक ऐसे व्यक्ति का चरित्र दिखाया गया



है जो सतह पर स्वस्थ और मित्रवत दिखता है जिसके साथ कुछ समस्याएँ है लेकिन साथ ही उसका व्यवहार वह डरावना आधार भी दिखाता है जिस पर यह व्यक्तित्व टिका है। **मंचूरियन केंडिडेट** और **सेकेन्डस** में भी यही समस्या है। इसके ठीक उलट स्थिति **ब्लैक कैट** में है जहाँ **बेला लुग्योसी** की डरावनी छवि के नीचे उस मित्र का पता खोजना है जो दब गया है। हॉरर फिल्मों में व्यक्तित्व में इन विरोधाभासी सम्भावनाओं का होना जिसमें ऊपरी आवरण और क्रिया में गहरा भेद हो, या समय में व्यवहार के गहरे बदलाव हों, एक ऐसी अप्रत्याशित स्थिति निवृत करती है जिसमें व्यक्तियों और घटनाओं पर सहज टिप्पणी आसान नहीं होती । इस वजह से वे सभी संकेत यहाँ काम नहीं करते जिनसे हम व्यक्तित्व और घटनाओं को विश्लेपित करते हैं। हमें इस बात की लगातार याद दिलायी जाती है कि कुछ लोगों में बुरा करने की सम्भावना है, हम लगातार इस बात से दो चार होते रहते हैं कि बुरे से बचाव जो हमारे भीतर या हमारे आस-पास है, सम्भव नहीं है, चूँकि हॉरर फ़िल्में पारम्परिक रूप से ही हमारे भीतर के अच्छेपन पर केन्द्रित नहीं होती, वे हमारा यह भय बढ़ाती है।

सीधा-सादा कथानक, कम चरित्र और सीधी तकनीक उपयोग कर फ़िल्मकार सबसे आसानी से उस फ़िल्म के मूल स्वर को उसके गठन, उसके संदर्भो, अवयवों और समान्तरता में पकड़ सकता है । इन सभी अवयवों का पूरा उपयोग फ़िल्म की मूल ध्वनि पाने में वह कर सकता है और एक सम्पूर्णता उसे मिल सकती है। लेकिन यह सम्पूर्णता डिजाइन की है फ़िल्म के विन्यास की नहीं । **आइ वॉक्ड विश द जोम्बी ,डेड ऑफ नाईट आइलैंड ऑफ लॉस्ट सोलस,** और **ब्लैक कैट** इसी तरह की रचनाएँ है।

अव्यवस्था दुनिया की और सपनों की

जब कोई जटिलतर विचार जिसमें आपसी सम्बन्धों को जोड़ने वाले अधिक तत्व हों सम्पूर्णता पाता है तब उसमें अर्थों के इतने आयाम मिलते हैं जो सहज सामान्य कलाकृति में सम्भव नहीं होते । यह गहरी विचारशीलता को उत्तम विन्यास के साथ जोड़ता है यही प्रक्रिया है जो इन फ़िल्मों को इतनी अच्छी कलाकृति बनाती है जैसे ड्रेयर की **वैम्पीर** या उनकी **डे ऑफ रेथ** या **फ्रीक, जेकिल एन्ड हाइड, इनवेजन ऑफ बॉडी स्नैचर, साइको, मंचुरियन केंडीडेट** या **क्रेमलिन लेट से** । सबसे अच्छी हॉरर फिल्में ऐसी दुनिया बनाती है जो बाह्य दुनिया की अव्यवस्था की प्रतीक होती है। **मैड लव, साइको** और **ब्राइड ऑफ फ्रैंकस्टाइन** अपने पात्रों के भीतर दुविधा और विभ्रम का समानान्तर संसार रचती है। **वैम्पीर, आइलैड ऑफ लॉस्ट सोल, डे ऑफ रैथ** ऐसे समाजों की रचना करती है जो भ्रम और दुविधा का छोटा संसार है जबकि **मंचूरियन केंडीडेट** और **इनवेजन ऑफ बॉडी स्नैचर** दोनों ही स्वरों पर काम करती है। ये फिल्में संसार का सरलीकृत रूप प्रस्तुत करती हैं लेकिन ये फिल्में संसार को आसान और वैसा ही स्वीकार नहीं करतीं।

एक सफल हॉरर फिल्म हमें जीवन समझने के प्रचलित सामान्य तरीकों को छोड़ने के लिए

बाध्य करती है, हमें अपनी शर्तों पर कार्य करने को मजबूर करती है फिल्म। हमें यह विश्वास नहीं करना होता कि लोग तेंदुओं में बदल जाते हैं जैसा कि कैट पीपुल में होता है या चिड़ियों में जैसा कि फ्रीक या फिर भेड़ियों में जैसा 'ड्रैकुला' में होता है। हमें दरअसल उन तथ्यों का साथ छोड़ना होता है जो सिनेमाघर में आते समय हमारे साथ होते हैं और यह मानना होता है कि फिल्म के चरित्रों के लिए ऐसी घटनाएँ तथ्यात्मक है। यदि फिल्म के दो कथन एक दूसरे के विरूद्ध न हों और हम उनमें से किसी एक पर निर्भर न रहें, न उनमें से किसी एक से निकलने वाले तर्कों को अस्वीकृत करें तब फिल्म में भयावहता का विस्तार होता है और वह फिल्म के हर तत्व और दृश्य से निकलती है। **मैड लव, ब्राइड ऑफ फ्रैंकस्टाइन, आइलैण्ड ऑफ लॉस्ट सोल**, और वैम्पीर ऐसी फिल्मों के उदाहरण हैं जिसमें पूरी फिल्म भयावहता की अनुभूति बन जाती है। संगीतात्मक फिल्मों की तरह हॉरर फिल्में भी परम्परागत जीवन को दिखाने के लिए बाध्य नहीं है। वे मनोविश्लेषण से ले कर अजीब तरह के अतीन्द्रिय भावों को ले कर बन सकती हैं। वे निजी अनुभूतियों का वस्तुनिष्ठ प्रस्तुतीकरण बन जाती है। इस तरह से **'मैड लव'** और **' ब्राइड ऑफ फ्रैंकस्टाइन'** न सिर्फ अपनी किस्म की फिल्मों का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण बल्कि सामान्य रूप से फिल्मों का ही सबसे अच्छा उदाहरण हैं। इन फिल्मों में एक दूसरे के विरोध में इतने तत्व हैं कि वे एक दूसरे का अन्त करते हुए फिल्म के भीतर छुपी हुई बात को दिखाते हैं। इन फिल्मों में हास्य और त्रासद, यथार्थ और फंतासी का मिश्रण समूचे संसार की अव्यवस्था को दर्शाता है, साथ ही उस भ्रम से हमारा परिचय कराता है जहाँ इस अव्यवस्था पर व्यवस्था का आवरण चढ़ा होता है। ये फिल्में दिखाती हैं कि सामान्य मनुष्य, सामान्य घटनाएँ और सामान्य जिन्दगी उतनी अर्थवान और तर्क पूर्ण नहीं हैं जितनी दिखती हैं। दूसरी तरफ असामान्य व्यक्ति जैसे मैड लव में गोगोल या **साइको** में नार्मन बेट्स इतने असामान्य नहीं हैं और न उनके कार्य न समझे जा सकने वाले हैं।

हॉरर फिल्में रंगीन हो सकती हैं या श्वेत-श्याम, वे शैलीगत रूप से अलग हो सकती हैं जैसे **कैलिगरी** या वे नकली वृत्तचित्रात्मक हो सकती हैं जैसे **वाटकिंस की वार गेम**। ये फिल्में अच्छे और बुरे दोनों तरह के फिल्मकारों द्वारा बनायी जाती हैं। हॉरर फिल्में बनाने और भयावहता पैदा करने के लिए कोई खास कैमरा तकनीक, कैमरा कोण, खास सम्पादन, खास अभिनय और खास मेकअप दरकार नहीं होते। लेकिन एक खास तरह की तकनीक जो कथानक से भिन्न है कुछ अंशों में हर हॉरर फिल्म में पाई जाती है। यह खास बात किसी लेखक के खास तरह के लेखन में, कैमरे के खास कटों में, दृश्य के प्रकाश संयोजन में, फिल्म के खास तरह के सम्पादन में, खास तरह के ध्वनि मिश्रण में या निर्देशन के खास तरह से अभिनेताओं और वस्तुओं के उपयोग में हो सकती है। हम सब स्वप्न देखते हैं और इसलिए फिल्म के दृश्यों में स्वप्नगत बातें, मनोवैज्ञानिक विचलन आदि हम देख सकते हैं। उदाहरण के लिए **पोलांस्की** की फिल्म **रिपल्शन** में भयावहता सिर्फ लड़की के

यौन भय से नहीं पैदा होती बल्कि वह पैदा होती है फ़िल्म में लड़की के सामान्य जीवन और फंतासी जीवन के एक जैसा बनने से। देखने, सुनने में ये एक से जीवन लड़की में शारीरिक बदलाव पैदा करते हैं और उसके बढ़ते अकेलेपन और पागलपन को कैमरा इस तरह पकड़ता है कि छत नजदीक आती लगती है गलियारे और लम्बे लगते हैं, अंधेरा बढ़ता लगता हैं, और आवाजें दूर से आती लगती हैं।

प्रेस्टन स्टर्ज की हास्य फिल्मस **अनफेथफुली योर्स** में एक स्वप्न का दृश्य बंध है जो फ़िल्म को भयावह बनाता हैं। एक आर्केस्ट्रा का कंडक्टर अपनी पत्नी पर परगामी सम्बन्ध रखने का शक करता है और एक कंसर्ट कंडक्ट करते-करते अपनी पत्नी की हत्या की एक ऐसी विरूप योजना बनाता है जिसमें शक पत्नी के प्रेमी पर आये। वह स्वप्न देखता है कि वह अपनी पत्नी की चीखों का एक ग्रामोफ़ोन रिकार्ड बनाता है जिसमें उसकी पत्नी अपने प्रेमी का नाम ले रही होती है। वह अपनी पत्नी की हत्या करता है और वह रिकार्ड पत्नी के कमरे में रखता है और प्रेमी को बुलाकर दुसरे कमरे में इंतजार करने को कहता है। जब रिकार्ड दूसरे कमरे में बजता है तो प्रेमी उस कमरे में जाता है और उसे उस स्त्री की लाश मिलती है और उस पर हत्या का आरोप लगाया जाता है। यहाँ भयावहता इस बात से पैदा होती है कि ऐसे तत्वों, घटनाओं और ध्वनियों को एक दूसरे पर आरोपित किया जा रहा है जिनका आपस में कोई सम्बन्ध चेतन या तार्किक रूप से नहीं है। सिर्फ उपचेतन के स्तर पर कुछ चिढ़ पैदा करने वाले हल्के संबंध है। **अनफेथ फुली योर्स** के इस स्वप्न दृश्य बंध में भयावहता पैदा होती है फिल्म के विरोधाभासी दृश्य और ध्वनि संबंधो से और इस बात से कि यह विरोधाभास उस असमान और असहज स्थिति को दर्शाने में सफ़ल होता है जहाँ प्रेमी जानता है कि स्त्री मर चुकी है पर वह उसके जीवित रहने को लेकर आशावान है और इसके साथ ही पति से जुड़ी हुई वास्तविकता जिसमें पति अपनी पत्नी को मृत और जीवित दोनों ही देखना चाहता है। यदि इस पूरे दृश्यबंध को फंतासी के रूप में उपयोग नहीं किया गया होता, यदि इसे सिर्फ़ सपना ही दिखाया गया होता जो खत्म हो ने पर पता चलता, तो इसमें फिल्म के संदर्भों, हास्य की संभावनाएँ समाप्त हो जाती। चूंकि सपने वह दिखाते हैं जो चरित्र सामान्य जीवन में चेतन रुप में नहीं कर पाते इसलिए सपनों के विचलन सामान्य जीवन में भ्रम पैदा कर सकते हैं उस चरित्र के लिए और उसे एक रास्ता देते हैं वह करने का जो उसकी इच्छा है। साथ इस बात का चेतन स्तर पर नकार भी करते है। जैसे **डे ऑफ रैथ** में पति की कामेच्छा का नकार इस तरह होता है कि वह अपनी पत्नी को चुड़ैल या प्रेतात्मा समझने लगता है। इसी तरह **मैड लव** में गोगोल का यह विश्वास कि मूर्ति पिगमैलियन की तरह जीवित हो गई है, उसका ऐसा भ्रम है जो ऐसी दुनिया, जिस पर उसका नियंत्रण नहीं है, पर विजय की राह दिखाता है। इसी तरह **फ्लोरी की बीस्ट विथ द फाइव फिंगर्स** में हत्यारे का विश्वास कि कटा हुआ हाथ जीवित हो उठा है, उसे हत्या के अपराध बोध से बचाता है। जहाँ वह

यह सोचता है कि हत्यारा वह कटा हुआ हाथ है वह खुद नहीं। इन सभी उदाहरणों व्यक्ति के भीतर दबी हुई ताकतें हैं और वे इन ताकतों को दूसरी वस्तुओं पर आरोपित क देते हैं। उनके लिए सपने यथार्थ बन चुके हैं। इन फिल्मों में चरित्रों का पागलपन उन नजरिए से दुनिया को लगातार बदलते रहकर दर्शाया गया है। भयावहता यहाँ नि करती है अनुभूति पर। जानने पर नहीं, यह न जान सकने पर कि कौन पागल है और कौ नहीं। **मंचूरियन कैंडिडेट** में सिपाही की अपनी पति की हत्या रिचर्ड ब्रूक की **इनकोल्ड ब्लड** में पेनी द्वारा अपने परिवार की हत्या या फिशर की फिल्म **द बोस्टन स्ट्रेंग** में प्लें द्वारा माहिर तरीके से की जाने वाली हत्याएं, हमारे लिए एक खतरा पैदा करती हैं। चूंि हम देख सकते हैं हत्यारे के विकृत किन्तु सहानुभूति पैदा करने वाले व्यक्तित्व में मृत लो की बेचारगी और हत्यारे के चरित्र की रोशनी में इन अपराधों की अनिवार्यता।

फिल्में सपनों की संभावनाओं का उपयोग असामान्य मानसिक प्रक्रियाओं को हम त पहुंचाने के लिए करती हैं। सिर्फ स्वप्नों के दृश्य संयोजन या चरित्रों के स्वप्नवत विचल से नहीं बल्कि खुद अपने स्वप्नवत बन जाने से या हॉरर फिल्मों के सन्दर्भ में दुस्वप्न ब जाने से जैसा हिचकाक की फिल्मों **वरटाइगो, मेरीन या डेड ऑफ नाइट** में होता है फिल्मों का सरोकार अक्सर भ्रम समझने की गलत प्रक्रिया या पूर्वाग्रह होते हैं। ये स विषय हॉरर फिल्मों के कथानक में अनिवार्य रूप से आते हैं। जैसे **मूचरियन कंडीडेट** सम्मोहित किये गये सिपाहियों के स्वप्न न सिर्फ उनके व्यक्तियों को दर्शाते हैं बल्कि उन तकलीफों का भी चित्रण करते हैं। हर सिपाही अपने सपने में सम्मेलन देखता है जिस प्रभाव ग्रहण करने की उसकी अभिवृत्ति चीनी और रूसी अफसरों के आगे उजागर हो है। लेकिन हर सिपाही स्वप्न में इसे मिले-जुले रूप में देखता है, कभी सम्मेलन की त कभी बगीचे में पार्टी की तरह जैसा कि उसे बताया गया था और ज्यादातर दोनों बातों मिले जुले रूप में। जैसे कि कभी उन्हें अफसरों द्वारा कही बातें उन महिलाओं के मु से सुनाई देती हैं जो उन्हें बगीचे की पार्टी में मिली थीं। कभी-कभी महिलाएं उन्हें फू की किस्मों के बारे में बात करते वक्त **स्तालिन** और **लेनिन** के चित्रों के आगे खड़ी दिख हैं, और एक अश्वेत सिपाही को अजीब तरह की बात करती सभी महिलाएं अश्वेत दिख हैं। **मेरीन** में बचपन में देखा गया स्वप्न वर्तमान समय से मिल जाता है। शॉट रात समय शुरू होता है एक गंदे छोटे कमरे में जिसमें एक हाथ खिड़की खटखटाता होता और फिर कैमरा पैन होता है, सोती हुई मेरीन पर जो कि अपने सुन्दर और सजे-धजे क में सोती दिखती है।

फिल्म **डेड ऑफ नाइ** के सेट में फिल्म के छः सात स्वतन्त्र खण्ड फिल्म के अन्तिम हि में धीरे-धीरे जटिलतर हो कर मिलते हैं और एक डरावना अन्त सामने आता है। फि के अन्त में फिल्म का प्रारम्भ दिखाया जाता है जो किसी पहले से अनुभूत घटना अहसास दिलाता है। इन सभी फिल्मों में जो मुख्य बात है वह है इनका पूरेपन में उस

समझा जाना जब कि वे हत्या दिखाती हैं। मेरीन के उदाहरण में दवी हुई हत्या, **मंचूरियन कैंडीडेट** में सम्मोहन के प्रभाव में की गई हत्या या डेड ऑफ नाइट में ऐसी हत्या जिसका आभास पहले से मिलता हो। बहुत सी फ़िल्में जो आमतौर पर हॉरर फ़िल्मों की श्रेणी में नहीं रखी जातीं, अपने स्वप्नवत गुणों के आधार पर समझी और विश्लेषित की जा सकती है। ब्युनेल की एल, बर्गमेन, की साइलेंस या फेलिनी सेटिरिकोन, ऐसी ही कुछ फ़िल्में हैं। इन सभी फ़िल्मों में इस बात के संकेत और कभी-कभी अनिवार्यता है कि स्वप्न-दुस्वप्नों में बदल जायेंगे और हम इन फ़िल्मों के चरित्रों की ही तरह दुस्वप्नों में फंस जायेंगे। ब्यूनेल की फ़िल्म **विरीडिआना** में भिखारियों के भोज का बिखराव, फेलिनी की फ़िल्म **जूलियट ऑफ स्पिरिट्स** में जूलियट की लगातार बढ़ती विक्षिप्तता, वर्गमान की शेम में सवाल -जवाबों का सिलसिला या वेल्स की ट्रायल के दृश्य अपने मूलरूप में भयावहता के दृश्य हैं। ये सभी दृश्य बुरी फ़िल्मों को अपनी भयावहता के कारण एक खास रंग देते हैं।

रोजमर्रा के भयों का विस्तार

भयावहता कोई विशेष भावना नहीं है बल्कि इसका आधार रोजमर्रा के जीवन के सामान्य भय ही हैं। जिस तरह दैनिक भयों की अभिव्यक्ति और समाधान सपनों में कुछ इस तरह होता है कि आसानी से पहचानें नहीं जाते। उसी तरह भयावहता भी फ़िल्मों में इस और विशेष और विचित्र रूप में समाधान पाती है कि उसका सामान्यता से कोई संबंध नहीं बचता। लेकिन **क्रेमलिन लेटर्स** या **बोस्टन स्ट्रॅगलर** जैसी फ़िल्में भयावहता पैदा करने वाले तत्वों को छुपाती नहीं है और उन्हें जैसा का वैसा दिखाती है। वे दर्शकों और फ़िल्मों के बीच सुरक्षित भावनात्मक दूरी नहीं पैदा करती इसलिए अक्सर इन्हें विकृत, घृणोत्पादक और अयथार्थ फ़िल्में समझा जाता है। हालाँकि ये सभी फ़िल्में अपने कथानक के अन्दाज में परवर्ती हॉरर फ़िल्मों के समान्तर ही हैं। उदाहरण के लिए **बोस्टन स्ट्रॅगलर** मृत्युभय के परिणाम, शक्तिहीनता के भय, बेगानेपन के भय, विरूपता के डरों की पड़ताल करती है। यह मानव के अपने भीतर बुरे की ताकतों और दूसरे में बुरा देखने के भाव को नाटकीयता देती है। यह फ़िल्म दिखाती है एक व्यक्ति का अपने आप पर नियंत्रण खोना और उसका समाज के दबावों द्वारा पूरी तरह अपनी शक्ति खोना फिर भी ऐसे समाज के खिलाफ विद्रोह करना। यह फिल्म यथार्थ, स्मृति और स्वप्नों के घालमेल के ऊहापोह को पूरी तरह पकड़ने का सशक्त उदाहरण है। **बोस्टन स्ट्रॅगलर ए वाक विथ लव एंड डेथ** या **सेकेन्डस** जैसी फ़िल्मों में काली ताकतों को काम करते दिखाना घटनाओं और उनके परिणामों को पकड़ने का एकमात्र साधन भयावहता ही हो सकती है। आलोचना के औजार के रूप में भयावहता का प्रयोग सिर्फ प्रचलित हॉरर फ़िल्मों में ही नहीं होना चाहिए जो एक से कथानक, कलाकार और तकनीक उपयोग करती है। भयावहता के विचार को ऐसी-पूरी फ़िल्मों की अवधारणा पर लागू करना जरूरी है जो भयावहता की ताकत का इस्तेमाल

करती है। ऐसा किये बगैर बहुत सी फिल्मों के गुणों को जांचने से हम वंचित रह जाते हैं।

सेकेन्डस एक यथार्थवादी हॉरर फिल्म है। यह समझ में आने वाले वर्तमान में घटती है और इसके सरोकार समकालीन अमेरिकी समाज की समस्याएँ हैं जो कि केन्द्रीय चरित्र अपने समय की प्रचलित परम्पराओं, आकांक्षाओं के कुंठित होने के कारण झेलता है। नकली कागजों की मदद से दूसरी जगह फिर से जीवन के शुरुआत का प्रस्ताव उसे मिलता है। एक ऐसा मौका जिसमें अपने जीवन के समस्त बंधनों से वह मुक्त होगा। जीवन के प्रति दृष्टिकोण में यह अचानक परिवर्तन उसे दिखाता है उसके अपने व्यक्तित्व के वे आधार और पूर्वाग्रह जिनके चलते वह- वह है। साथ ही यह घटना उसे अचानक इस बात का भी अहसास कराती है कि उसे अलग पहचान देने वाला संगठन उसी भूमिका में है जो पुराने जीवन में समाज की दूसरी संस्थाएँ निभाती थीं और उसके व्यक्तित्व को दबाती थीं। पहले समाज और फिर उसके स्थान पर संगठन दानव की शक्लें अख्तियार कर लेते हैं उसके लिए। पहले समाज और फिर ताकतवर संगठन उसके बारे में, उसके जीवन के बारे में, उसके व्यवहार की बारीकियों के बारे में सब कुछ जानते हैं, उसे नियंत्रित करते हैं। इसके विपरीत वह उनके विषय में, उनकी कार्यपद्धति के विषय में कुछ नहीं जानता और न अपने जीवन के विषय में उनके द्वारा किये गए फैसलों को प्रभावित कर सकता है। एक एक कर उसके वे संकेत बेकार होने लगते हैं जिनके आधार पर वह लोगों, स्थितियों और भावनाओं को समझा करता था। वह अति सामान्य स्थितियों के सामने भी अपने को असहाय पाता है। जीवन की सामान्य घटनाएँ जैसे किसी लड़की से मुलाकात, पुराने मित्र से मिलना, पार्टी में जाना उसके भीतर भयावहता पैदा करती हैं। उसे अपने नये वातावरण में व्यवस्थित होने और नयी पहचान के अनुरूप नया व्यक्तित्व ढालने को कहा जाता है। लेकिन उसके पास इस नये समाज को समझने के वैचारिक आधार नहीं हैं और इस समाज में उसे अपनी हैसियत समझ में नहीं आती। एक नये व्यक्तित्व को पाने के स्थान पर वह अपने पुराने व्यक्तित्व पर ही से विश्वास खो बैठता है। उसके आत्म का उस सबसे भयानक स्थिति से सामना होता है जहाँ उसे लगता है कि वह कुछ भी नहीं है। उसकी असम्बद्ध और अनिवार्य मृत्यु दिखाती है उसकी नपुंसकता और बाहरी दुनिया में उसका बिल्कुल गैर महत्वपूर्ण होना।

किसी सर्वोच्च ताकत वाली सत्ता के समक्ष नपुंसकता की भयावहता परम्परागत रूप से कालिगरी, माराऊ, मैजीशियन के जादूगर के व्यक्तित्वों द्वारा दिखायी जाती है। लेकिन यह भयावहता यथार्थपरक रूप से दिखायी गयी भयावहता जैसी ही होती है उससे कम या अधिक नहीं जैसे इ-क्वीजिशन जैसा एक डर जो **डे ऑफ रैथ** में है, या जैसा डर **सारजेंट की कोलसस** में कम्प्यूटर पैदा करता है, या जैसा मिजोगूची कि **सांशो द बेलिफ** में सामंती व्यवस्था करती है, या जैसा भय **सेकेन्डस** का संगठन उत्पन्न करता है। आधुनिक

समय के भय मूल रूप से वे ही भय हैं जो मानव इतिहास और कला में हमेशा से पाये जाते हैं, यदि वे कही भिन्न हैं तो सिर्फ अपने बाहरी आवरण और कर्म में। प्लेग से सबकुछ समाप्त होने का खतरा अणु संहार के खतरे से फार्म के लिहाज से भिन्न है। ज्यादा यथार्थपरक और समसामयिक हॉरर फिल्में वह सभी कुछ कर सकती है जो परंपरागत हॉरर फिल्में करती हैं और वे उनसे कुछ अधिक भी पा सकती हैं। वे लोगों को अपने डरों का सामना करने को बाध्य करती है। मदद करती हैं उनकी जो फिल्में बनाते हैं और जो फिल्में देखते हैं कि वे देखें भय पैदा करने वाले कारकों को और भय पैदा करने वाले अपने समय को पहचानें। वे न सिर्फ भय के स्वरूप को समझें बल्कि भयोत्पादक समाज को भी ठीक तरह से समझ पायें।

अनुवाद : कमलकिशोर तिवारी

इतिहास के फिल्मांकन की प्रक्रिया में इतिहास

डॉ.विजय कुमार अग्रवाल

मुझे लगता है कि भारतीय फिल्मों के कथानक तथा उसके स्वरूप निर्धारण के पीछे सबसे महत्वपूर्ण एवं सक्रिय तत्व है, भारतीय लोक मानस , यह बात गौर करने लायक है कि इक्कीसवीं शताब्दी में पदार्पण करने की तैयारी में मशगूल भारत की सामूहिक चेतना आज भी अपने प्राचीन सांस्कृतिक मूल्यों से आविष्ट है। मैं ***सामूहिक चेतना*** की बात कह रहा हूँ , शहरी चेतना की नहीं । फिर यह भी है कि शहरी चेतना आज तक लोक चेतना की जड़ों के रेशों को झाड़कर अपने को उससे पूरी तरह मुक्त नहीं कर पाई है। ऐसा लगता है कि इस लोक चेतना तथा शहरी चेतना को केन्द्र में रखकर हम अपने यहाँ की फिल्मों के निर्माण तथा उनकी सफलता-असफलता का काफी कुछ सीमा तक मूल्यांकन कर सकते है। यदि हमारे यहाँ एक ही समय में एक ओर **जय संतोषी मां** फिल्म सफल होती है, और दूसरी ओर **शोले** या **बॉबी** सफल होती है, तो इनके पीछे इन दोनों चेतनाओं की अनुकूलता की बात की जांच करके अच्छे सामाजिक और सांस्कृतिक निष्कर्ष प्राप्त किये जा सकते है।

हमें इस सच्चाई को स्वीकार करना ही चाहिए कि इतिहास, इतिहास है तथा सिनेमा, सिनेमा है। मुझे लगता है कि गड़बड़ी होने की आशंका तब बढ़ जाती है, जब हम सिनेमा को इतिहास के पन्ने समझने के बौद्धिक मोह में पड़ जाते है। इस दृष्टि से तो साहित्य सिनेमा की अपेक्षा इतिहास के अधिक निकट है। लेकिन इसके बावजूद साहित्य इतिहास नहीं है। जिस प्रकार ऐतिहासिक उपन्यासों अथवा नाटकों का मूल्यांकन, ऐतिहासिक तथ्यों की

प्रामाणिकता के आधार पर नहीं होता, इसी प्रकार क्या ऐतिहासिक सिनेमा के मूल्यांकन में भी उतनी छूट नहीं दी जानी चाहिए? यहाँ एक बात और है। हमें सिनेमा और डाक्यूमेंट्री को भी अलग रखना होगा। किसी ऐतिहासिक तथ्य पर एक प्रामाणिक डाक्यूमेंट्री बन सकती है, लेकिन उतनी प्रामाणिक फ़िल्म बनाना, कम से कम भारतीय समाज के संदर्भ में तो एक चुनौती ही है। इसी प्रकार आज की एक डाक्यूमेंट्री फ़िल्म कल के इतिहास लेखन के लिए एक सशक्त प्रामाणिक दस्तावेज बन सकती है, लेकिन आज के सिनेमा के लिए यह उतना संभव नहीं है। आखिर ऐसा क्यों है? इसके कुछ कारणों को ढूंढ़ा जा सकता है। जैसा कि मैंने पहले कहा, हमारे यहाँ के फ़िल्म निर्माण के स्वरूप का निर्धारण करने में हमारी सामूहिक संस्कृति की सामूहिक चेतना का प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से बड़ा महत्वपूर्ण हाथ रहा है। हमारे यहाँ फ़िल्म निर्माण की शुरूआत ही मिथक, धार्मिक, ऐतिहासिक तथा लोक कथाओं से हुई है। खैर, मूक सिनेमा के युग की तो यह एक अनिवार्य आवश्यकता ही थी कि कथानक ऐसे चुने जायें, जिसकी जानकारी लोगों को पहले से ही हो। लेकिन जब सवाक फिल्मों की शुरूआत हुई, तब भी हमारे फिल्मकार कथानकों के चयन के इस आधार को छोड़ नही पाये। वैसे यदि हम शास्त्रीय दृष्टि से सोचें तो यह बात थोड़ी अजीब सी लगेगी। अजीब सी इसलिए क्योंकि पूर्वगत कथानकों की कथा, उसका चरमोत्कर्ष तथा उसका अंत तो दर्शकों को पहले से ही ज्ञात होता है, इसलिए इस फ़िल्म में *जिज्ञासा* नामक तत्व तो रह ही नहीं जाता। इसके बावजूद यदि ऐसी फिल्में बनी और सफल रहीं हैं, तो उसका श्रेय सामूहिक चेतना तथा विषय-वस्तु की प्रस्तुति के कलात्मक सौंदर्य को दिया जाना चाहिए ।

भारीतय लोकमानस में अपनी संस्कृति के मिथक,धार्मिक कथाओं ऐतिहासिक सन्दर्भों तथा महत्वपूर्ण लोक चरित्रों के प्रति एक विशेष आकर्षण बल्कि एक सम्मोहनजनक स्थिति है। मुझे लगता है कि इसीलिए हमारे फिल्मकारों ने इतिहास से केवल उन्हीं घटनाओं पात्रों और आख्या चित्रणों को लिया, जिनसे हमारा समाज पहले से परिचित है, और जिनके बारे में उनकी रुचि पूर्व परिक्षित भी है। इसके कुछ स्पष्ट तत्कालिक लाभ थे। पहला तो यही कि इन फिल्मों के सफल हो जाने की कुछ न कुछ तो गारंटी मिल ही जाती थी। इससे फिल्म के साथ जुड़ा हुआ अर्थशास्त्र अपने आपको थोड़ा सुरक्षित अनुभव करता था। दूसरे यह कि इतिहास के नाम पर कुछ ऐसे दृश्य, कुछ ऐसी घटनाओं को फिल्माने की सामाजिक स्वीकृति भी मिल जाती थी, जिनके लिए अन्यथा उस समय का समाज शायद विरोध करता । एक बात और भी थी; आजादी से पहले के काल में जो ऐतिहासिक फ़िल्में बनी उन्होंने अपने माध्यम से उस सांस्कृतिक पुनर्जागरण आंदोलन को आवाज दी, जिसकी शुरूआत उन्नीसवीं सदी के पुवार्द्ध में राजा राममोहनराय ने की थी। पुरु शिवाजी, महाराणा प्रताप और झांसी की रानी जैसे स्वाभिमानी, देशभक्त वीरों के कथानकों द्वारा उस समय के फिल्मकारों ने लोगों में राष्ट्रीय चेतना जागृत करने का काम किया। हालाँकि

उस समय सिनेमाघर बहुत कम थे, और वे भी बड़े नगरों तक सीमित थे, फिर भी इसमें निहित उद्देश्यों और राष्ट्रव्यापी प्रभाव इतने नगण्य नहीं थे कि उनकी अनदेखी की जा सके।

शायद इस बात को स्वीकार करनें में फिल्मकारों को कोई एतराज नहीं होगा कि उन्होंने ऐतिहासिक फिल्में न तो इतिहास के विद्यार्थियों के लिए बनायीं है, और न ही वे उनके ऐतिहासिक मूल्यांकन की अपेक्षा ही करते है। उनकी यह सीधी-सीधी स्वीकारोक्ति होगी कि उन्होंने ऐतिहासिक फ़िल्में देश के आम लोगों के लिए बनायीं है, और इस तरह से बनायी है, ताकि शिक्षित-अशिक्षित हर कोई उसे देखना चाहे, और देखकर आनंद का अनुभव करें। *लोगों की पसंद* के इस ख्याल ने फिल्मकारों द्वारा ऐतिहासिक घटनाओं तथा पात्रों के चयन के क्षेत्र को काफी सीमित कर दिया । क्या यही वह प्रधान कारण नहीं है, जिसके चलते कुछ ऐतिहासिक घटनाओं और पात्रों पर तो कई - कई फिल्में बनीं और कुछ घटनाओं तथा पात्रों को छुआ तक नहीं गया, चाहे वे घटनाएँ और पात्र ऐतिहासिक दृष्टि से कितने भी महत्वपूर्ण क्यों न रहे हों ? यह एक बड़ा कारण मालूम पड़ता है, जिसके चलते मुगलकाल पर सबसे अधिक फिल्में बनीं। मुगलकाल की कथओं में प्रेम-प्रसंगो, उर्दू के प्रभावशाली संवादों तथा गीत एवं नृत्यों की सबसे अधिक संभावना निहित थी, और इस संभावना का भरपूर उपयोग भी किया गया और वे फिल्में सफल भी रहीं । यदि ऐसी फिल्मों के प्रेम कथानकों तथा घटनाओं की ऐतिहासिकता को ढूंढने की कोशिश की जाए तो अधिकांश मामलों में निराशा ही हाथ लगेगी । वस्तुतः ऐसी फिल्मों में किया यह गया है कि उस समय के उन प्रसंगों को उठाया गया, जो उस समय में लोगो की चेतना में मौदूद थे, भले ही उनका कोई भी ऐतिहासिक आकार न रहा हो। इस बात की उन्हें विशेष चिन्ता भी नहीं रही है। उनकी चिन्ता इस बात के प्रति रही है कि किस प्रकार उस युग के वातावरण को अधिक से अधिक प्रामाणिक तौर पर प्रस्तुत किया जाये। ऐसा इसलिए क्योंकि वे जानते थे कि बिना ऐतिहासिक वातावरण के रस परिपाक नहीं हो सकेगा, फलस्वरूप फिल्म की अपील करने की क्षमता नहीं के बराबर रह जाएगी।

फ़िल्म एक सामूहिक कला माध्यम है, इसलिये इसकी सम्प्रेषणीयता के विभिन्न स्तरों पर भी जाने-अनजाने में कुछ ऐसे तथ्य शामिल होते रहते है, और कुछ पूर्व तथ्य खारिज भी होते रहते है, जिनकी कल्पना फिल्म की शुरूआत में नहीं की गई थी । हालाँकि रचना की इन प्रक्रियाओं से सभी कलाओं को गुजरना होता है, लेकिन फिल्म के साथ यह सबसे अधिक है। इतिहास को फ़िल्म में बदलने का अर्थ है बाँचने को देखने और सुनने में तब्दील करना। परिवर्तन की इस प्रक्रिया में कथा लेखक, संवाद लेखक और निर्देशक तो होते ही है, इसके साथ गीतकार, संगीतकार, नृत्य निर्देशक और छायाकार की भी भूमिका कम महत्वपूर्ण नहीं होती । और इन सबको अपने-अपने स्तर पर *जनता की रूचि*



के ध्यान में रखकर अपना-अपना योगदान करना होता हैं। इसके हर स्तर पर इतिहास अपने -अपने अनुपात में छीजता रहता है।

पहली बात तो यही कि लेखक किसी पात्र विशेष के मुख्य चरित्र की सबसे रोचक और चर्चित घटना को लेखन के लिए उठाता है। ऐतिहासिक दृष्टि से प्रेम और शौर्य दो सबसे महत्वपूर्ण बिन्दु उसे मिलते हैं। इसलिए जहाँ एक ओर पृथ्वीराज चौहान का चित्रण होता है, तो दूसरी ओर अनारकली का। अब लेखक को विभिन्न घटनाओं को जोड़ने के लिए अनेक ऐतिहासिक तथ्यों को तोड़ने पड़ता है, और कुछ ऐसी भावनात्मक घटनाओं और स्थितियों की कल्पना करनी पड़ती है, जो दर्शकों की भावना के समुद्र में ज्वार पैदा कर सके ।ऐसा ऐतिहासिक उपन्यासों में भी होता है। इस जोड़-तोड़ के बाद तैयार कथानक संवाद लेखक तक पहुँचता है। हर दर्शक इस बात को अनुभव करता है कि फिल्म के संवाद हमारे जीवन के संवाद नहीं होते । संवाद लेखक ऐसे शब्दों का चयन करते है, और उसे ऐसी विशेष आलंकारिक शैली में प्रस्तुत करते हैं, जो उन्हें सिनेमा घर में तालियाँ दिलवा सकें । चुने हुए तीखे-तीखे शब्दों को अत्यन्त जोशीले और भावनात्मक रूप में प्रस्तुत किया जाता है ताकि वे लोगों की भावना को उभार सकें। मुगले आज़म फिल्म के संवाद इस दृष्टि से सुनने लायक हैं। स्वाभाविक है कि जब भाषा का इस्तेमाल भावनाओं के उत्कर्ष के लिए किया जाएगा तब उससे इतिहास के तथ्यों को नुकसान पहुँचेगा ही, मुझे यह बहुत कुछ स्वाभाविक भी लगता है। वह इसलिए, क्योकि इतिहास की सी वर्णनात्मकता, जिसे हम सामान्यजन की भावना के अनुरूप शुष्कता कह सकते हैं, फिल्म में संभव नहीं लगती। ऐतिहासिक फिल्मकार को पहले इतिहास को साहित्य में बदलना पड़ता है, फिर वह इस साहित्य को सिनेमा में बदलता है। देखते हैं कि फिल्मकार जब साहित्य को ही साहित्य नहीं रहने देते, तो फिर इतिहास का इतिहास बना रहना

कितना मुश्किल है, इसे कम से कम वर्तमान समय के संदर्भ में तो समझा ही जा सकता है। यहाँ फ्रीडमैन की यह धारणा बिल्कुल खरी उतरती है कि प्रस्तुतकर्त्ता को सृष्टा होना चाहिए।

फिर एक प्रश्न यह भी उठता है कि मान लीजिए किसी फिल्मकार ने इतिहास को अपने फिल्म में इतिहास के ही रूप में प्रस्तुत करने का जोखिम उठाया भी, तो क्या दर्शक उसे स्वीकार कर पायेंगे। यहाँ दर्शक से मेरा मतलब जन समूह से है न कि समाज के एक छोटे से शिक्षित वर्ग से। हमारे यहाँ की कला फिल्मों की असफलता देश की उस सामूहिक मानसिकता की ओर संकेत करती है कि बौद्धिकता के बोझिलपन को पचाने की ताकत उसमें नहीं है और दूरदर्शन धारावाहिक की बात अलग है। इतिहास को फिल्मांकन के दौरान फिल्मकार इस बात का अवश्य ही ध्यना रखता है कि इस देश की करीब आधी आबादी अशिक्षित है **बैटिल ऑफ चिली** फिल्म के निर्देशक **पेट्रिशियो गजमैन** ने अपनी इस फिल्म के बारे में कहा था कि यह सही है कि फिल्म में बहुत सी सुंदर घटनाएं है क्विलाप्यून और संगीतकारों के दूसरे दल गाते-बजाते है। लोग झंडे और बैनर लिए रहते है लेकिन फिल्म उन्हीं सबके साथ बह नहीं जाती। यह रागात्मक फिल्म नहीं है। यह दर्शक के साथ कोई रियायत नहीं बरतती । उसे कोई सुख नहीं पहुँचाती । यह एक फिल्माया हुआ निबंध है। मुश्किल यह है कि भारतीय मानसिकता निबंध के प्रति नहीं कविता के प्रति सम्मोहित है। शायद ललित निबंधों को तो वह थोड़ा बहुत स्वीकार भी कर ले, लेकिन अभी तक उसने ऐसा कोई भी संकेत नहीं दिया है कि वह निबंध को स्वीकार करने की मुद्रा में है। और यही मुशिकल आती है क्योंकि जब इतिहास के लिए फिल्म बनाने की कोशिश होगी, तो वह निबंध के करीब पहुँच जाता है ।अब यह फिल्मकार की अपनी सर्जनात्मक प्रतिभा पर निर्भर करेगा कि वह कैसे इस निबंध को अपना स्पर्श देकर ललित निबंध में तब्दील कर सकता है।

ऐतिहासिक फिल्मों के साथ एक दिक्कत और है,यदि इतिहास और आधुनिकता के माध्यम से आधुनिकता को स्वर देने की कोशिश की जाती है,तो वह एक राजनैतिक फिल्म के करीब पहुँच जाती है। इसके बाद उसे उन सभी परेशानियों से जूझना पड़ेगा,जे अक्सर,ऐसी फिल्मों के साथ ऐसा है। यह विपरीत क्रम भी होता है । अर्थात यदि आज की यथार्थवादी घटनाओं पर यथार्थवादी फिल्म बनायी जाये,जैसा कि कुछ डाक्यूमेंट्री फिल्मकार करते है,तो उन्हें भी अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। ऐसी फिल्में भले ही वर्तमान में ऐतिहासिक फिल्में न कहलायें, लेकिन भविष्य में ऐतिहासिक फिल्म कहला सकती है। फिर भी समस्या यह है कि भविष्य के लिए वर्तमान को कौन तकलीफ में डालना चाहेगा ? कुछ ऐसे प्रतिबद्ध लोग है,ऐसा करते है,लेकिन अभी भी उन्हे जन समर्थन मिलना शेष है। उनकी सफलताएँ राष्ट्रीय पुरस्कारों की प्राप्ति तक सिमटकर रह गई है।

फिल्म निर्माण की उपरोक्त सारी स्थिति और प्रक्रियाओं को देखते हुए ऐसा लगता है कि एक ऐतिहासिक फिल्मों का मूल्यांकन किया जाये,तब इन विन्दुओं को ध्यान में रखा जाना चाहिए।

ऐतिहासिक फिल्मों के निर्माण में यदि इतिहासकार की भूमिका को निहित किया जाए तो मुझे लगता है कि फिल्में इतिहास के अधिक करीब हो सकेगी । कम से कम यह तो हो ही सकेगा कि मूल तथ्य भ्रष्ट होने से बच सकेगें ।

चलचित्रीय भाषा

सगीर अहमद

एक कला के रूप में मान्यता प्राप्त करने का सिनेमा का दावा अब विवाद का विषय नहीं रह गया है और फ़िल्मों को भी सातवीं कला (सेवन्थ म्यूज़) की प्रतिष्ठा प्रदान की जा चुकी है। चूंकि बहुधा यह सुझाया जाता है और यह तर्क दिया जाता है कि कला का कार्य मनुष्य की स्थिति का विवरण प्रस्तुत करना है, इसलिए संभवतः इतिहास को केवल आंशिक मात्रा में कला कहा जा सकता है, क्योंकि इतिहास उन स्थितियों का चित्रण करने का प्रयास करता है, जिन स्थितियों में मनुष्य बीते हुए युगों में रहा करता था। इसलिए नितांत तथ्यात्मक दृष्टि से इतिहास को एक ऐसे प्रयत्न के रूप में समझा जाना चाहिए, जिसमें परवर्ती युगों और अवधियों के मनुष्यों को उन पूर्वतर युगों और अवधियों में विद्यमान और प्रवृत्तमान भौतिक तथ्यों अभिवृत्यात्मक वास्तविकताओं के निकटतर लाया जाता है, जो युग और जो अवधियाँ वर्तमान समय से कुछ दूरी पर हों।

इस प्रकार यह प्रतीत होगा कि इतिहास की वैधता और मान्यता की एक आवश्यक पूर्व शर्त यह है कि उसमें वर्तमान काल के सम्बन्ध में एक निर्देश-बिन्दु हो, अर्थात् सामग्री या विषय में स्वयं की वर्तमान से दूर रखने की और पाठक/दर्शक की एक ऐसी वास्तविकता में ले जाने की क्षमता हो, जो वास्तविकता वर्तमान से भौतिक दृष्टि से पर्याप्ततः हटी हुई हो और वैषयिक दृष्टि से सारभूत रूप से भिन्न हो, ताकि पाठक/दर्शक अतीत में अन्तर्निहित सत्य को वस्तुनिष्ठतः तथा स्पष्टतः देख सके, जिसमें कि वर्तमान का एक निर्देश भी होता है।

तथापि, यह कहना आवश्यक है कि अतीत एक ऐसा काल होता है, जो कि हमेशा और

सभी मामलों में समय के संदर्भ में वर्तमान से समान रूप में या एकसार रूप में दूर नहीं होता। इस प्रकार अभी-अभी का अतीत बहुत दूरस्थ अतीत से मात्र समय की मात्रा के संदर्भ में भिन्न नहीं होता, बल्कि किसी विशिष्ट समय में विद्यमान समाजशास्त्रीय समीकरणों के संदर्भ में भी और जिस अभिवृत्ति से इतिहासकार उसे देख रहा होता है उस अभिवृत्ति के संदर्भ में भी भिन्न होता है।

इस प्रकार इतिहास की समझ उसमें अन्तर्निहित कारकों की समझ की मांग करती है, अर्थात:

उन घटनाओं को समझना आवश्यक होता है, जिनसे इतिहास कही जाने वाली चीज़ का निर्माण होता है और जो कि इतिहास का कच्चा माल भी होती है (यह कारक अतीत के क्षेत्र से सम्बन्ध रखता है), और

इतिहासकार के उस दृष्टिकोण को समझना आवश्यक होता है, जो कि सामग्री के निर्वचन में अन्तर्ग्रस्त होता है, (यह कारक वर्तमान के क्षेत्र से सम्बन्ध रखता है)।

इस प्रकार प्रक्रिया में एक प्रकार की द्वैधता निरंतर परिवर्तनशील रहती है, जिसके लिए सामग्री पर उसके स्वयं के समय के परिप्रेक्ष्य में चिंतन करने की आवश्यकता होती है और इसके साथ ही साथ इतिहासकार के स्वयं के समय के परिप्रेक्ष्य में भी उसका निर्वचन किया जाता है।

इतिहास में अन्तर्निहित ऊपर उल्लिखित द्वैधता को दृष्टिगत रखते हुए, इतिहास और सिनेमा के बीच एक जीविण्णु सम्बन्ध स्थापित करने की दिशा में किए जाने वाले किसी भी प्रयास में एक विरोधाभास को भी संज्ञात किया जाना चाहिए और उससे बचा जाना चाहिए। वह विरोधाभास यह है कि यद्यपि इतिहास अपने आरम्भ के समय से ही पृथ्वी पर एक सामाजिक प्राणी के रूप में मनुष्य के विकास और मनुष्य की प्रगति को अभिनियंत्रित करने वाली स्थितियों और परिस्थितियों का एक प्रामाणिक अभिलेख प्रस्तुत करने का प्रयत्न करता है, तथापि सिनेमा का उपयोग उसके प्रवर्तकों द्वारा प्राथमिक रूप से एक ध्यानपकर्षी उपकरण के रूप में किया गया है और उसका उपयोजन पलायन के एक साधन के रूप में किया जाता है, जिसका अभिप्राय मनुष्य की शक्तियों की रक्षा करना और मनुष्य के आज के अस्तित्व को अभिनियंत्रित करने वाली सच्चाई और वास्तविकताओं से उसे (फंतासियों आदि के ज़रिए) कुछ राहत दिलाना है।

इस प्रकार यहाँ यह कहना उपयुक्त होगा कि पूर्वतर युगों में जो सामाजिक समीकरण प्रवर्तमान थे और जो परिस्थितियाँ विद्यमान थीं, उनके चलते मनोरंजन करना विदूषकों और मसखरों का विशेषाधिकार था, और कभी-कभी वह वे अपनी व्यंगोक्तियों के ज़रिए, जिनमें दार्शनिकता का पुट हुआ करता था, अपने स्वेच्छाचारी स्वामियों की स्वेच्छाचारिता पर लगाम लगाया करते थे। तथापि, दूसरी ओर, यदि दार्शनिक भूमिकाओं को उलटने का

प्रयत्न करता था और अपनी अच्छी से अच्छी व्यंग्य-विनोदपूर्ण उक्तियों का उपयोग करते हुए किन्हीं कुत्सित फिर भी उचित विषयों की ओर संकेत करता था तो उसे निश्चित रूप से अपने स्वामी का कोपभाजन बनना पड़ता था और उसे सुकरात की तरह ऐसी उद्दंडता के प्रदर्शन की क़ीमत चुकानी पड़ती थी। तथापि, समकालीन समाज ने सच्चे विरोधियों तथा अन्य विक्षोभकारी तत्वों को समाप्त करने के लिए ज़हर (हेमलॉक) दे देने या उससे मिलते-जुलते अपरिष्कृत उपायों पर पर्दा डाल दिया है और उनके स्थान पर अधिक परिष्कृत साधनों तथा युक्तियों को अपना लिया है।

इस संक्रमण-काल के दौरान महत्वपूर्ण सामाजिक प्रश्नों को उजागर करने और विकराल प्रश्न उठाने का विशेषाधिकार, जो कि तब तक दार्शनिक का अनन्य विशेषाधिकार था, धीरे-धीरे किन्तु निश्चित रूप से पुराने ज़माने के विदूषकों या मसखरों की समकालीन प्रतिमूर्तियों ने हथिया लिया, जिन्होंने कलाकारों तथा प्रदर्शकों के वे वेश में धीरे-धीरे समकालीन युग में नागरिकों के सहज छले जाने योग्य मानकर अत्यन्त शक्तिशाली विध्वंसकों के रूप में दार्शनिक को प्रतिस्थापित कर दिया। इस संदर्भ में पिकासो की यह घोषणा कि, कला की वस्तुएँ भवनों को सजाने के लिए अभिप्रेत नहीं होतीं बल्कि वे शत्रु के विरुद्ध प्रतिरक्षा और आक्रमण के उपकरणों के रूप में उपयोग के लिए अभिप्रेत होती है, समकालीन समाज में गम्भीर कला की महत्वपूर्ण सामाजिक भूमिका को प्रकट करती है।

इससे इतिहास और फिल्मों के बीच के सम्बन्ध का प्रश्न सामने आता है। इस विषय को उचित परिप्रेक्ष्य में समन्वेषित करने और समझने के लिए दो बातों को ध्यान में रखना आवश्यक है, अर्थात् -

इतिहास स्वतः एक सत्तामीमांसीय सत्ता होता है, और इतिहास विगत युगों का एक अभिलेख होता है।

इतिहास अपने पहले लक्ष्यार्थ में अर्थात् एक सत्तामीमांसीय सत्ता के रूप में एक सतत चलने वाली कालिक घटना होता है, जिसका अतीत और वर्तमान काल दोनों ही द्वारा गठित ढांचे के भीतर और उससे भी परे एक वास्तविक अस्तित्व होता है। इस संदर्भ में वह उन वास्तविक घटनाओं द्वारा गठित होता है, जो कि समय में प्रकट होती है और अंशतः उन मानव घटकों द्वारा गठित होता है, जो कि पूर्वोक्त घटनाओं के प्रकटन में शामिल होते हैं और जोड़तोड़ करते हैं।

उसके बाद ये दोनों तत्व ही कालानुक्रमिक समय के अटल नियमों का पालन करते हुए समय के गर्भ में विलीन हो जाते हैं। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि वे सुनिश्चित घटनाएँ, जो कि इतिहास की सत्तामीमांसा में योगदान करती हैं और उसका गठन करती हैं काल और दिक् द्वारा प्रदत्त कतिपय परिवत्र्यों के रूप में प्रकट होती हैं।

अपने दूसरे लक्ष्यार्थ में अर्थात् ऊपर उल्लिखित पूर्वतर लक्ष्यार्थ के लिए आधार प्रदान करने वाली तथ्यात्मक घटनाओं के एक अभिलेख के रूप में इतिहास निर्वचन, द्योतन और संप्रेषण का एक प्रयत्न प्रतीत होता है, और इस रूप में वह इतिहास नहीं रह जाता, क्योंकि घटनाओं का इतिहासकार के मन और पाठक/दर्शक के मन के सिवाय वास्तविकता में स्वयमेव कदापि कोई अस्तित्व नहीं होता। इस प्रकार बाद वाले अर्थ में इतिहास दो कालबद्ध घटनाओं के बीच एक समीकरण निष्पन्न करने का एक व्यायाम है, जिनमें से एक घटना अतीत में विद्यमान होती है, जो कि देखने और मूल्यांकन के लिए होती है और एक घटना वह होती है, जिसे कि पुनर्जीवित कर वर्तमान में लाया जाता है। इस प्रकार वह उसे समकालीनता प्रदान करने का एक प्रयत्न होता है।

केवल दूसरे लक्ष्यार्थ में ही इतिहास और सिनेमा (तथा अन्य कलाओं) के बीच सम्बन्ध गढ़ा जाता है। तथापि, मात्र यह तथ्य कि कला के अन्य रूपों के विपरीत सिनेमा बुनियादी तौर पर बीसवीं सदी की उपज है, इस बात की संभावना को अपवर्जित कर देता है कि इस माध्यम ने पूर्वतर तथा पूर्वगामी शताब्दियों के इतिहास की प्रक्रिया के साथ अन्तः क्रिया की होगी या कि यह माध्यम उस प्रक्रिया से प्रभावित हुआ होगा। यह तथ्य हमें सिनेमा की भाषा के ऐतिहासिक विकास की समस्त चर्चा को बीसवीं सदी के भीतर संसीमित करने के लिए विवश कर देता है।

तथापि, सिनेमा की विधा कला के क्षेत्रों में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रत्यंतर है। इस कारक को कुछ विस्तार पूर्वक विशद करना उचित होगा। सिनेमा के आगमन के पूर्व कला की सभी कृतियां एक व्यक्ति की प्रेरणा और मेहनत की उपज होती थीं। किसी कलाकृति के अनुलिपिकरण या प्रतिलिपिकरण के लिए उपलब्ध साधन आरम्भ में अत्यंत सीमित थे। उसके बाद काण्ठ चित्रण (वुड कट), मुद्रण, लिथोग्राफी, फोटोग्राफी, ग्रामोफ़ोन, सिनेमा, रेडियो तथा टेलीविजन के आविर्भाव के साथ आरम्भ होने वाले विकास-क्रमों का समाजशास्त्रीय परिणाम यह हुआ कि कला अपनी अनन्यता खो बैठी और धीरे-धीरे हर किसी के लिए सुलभ हो गई।

अपनी स्वयं की भाषा से सम्पन्न कला के एक पृथक् रूप की हैसियत से सिनेमा के अंतिम आविर्भाव में वस्तुतः चार बहुत विनिर्दिष्ट कारक प्रभावकारी रहे हैं। इसमें से तीन कारकों का स्वरूप कलात्मक तथा तकनीकी था, किंतु चौथा कारक स्पष्टतः समाजशास्त्रीय था और इसलिए वह एक स्वतंत्र माध्यम के रूप में सिनेमा के सफल आविर्भाव के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण था। वे चार कारक ये थे -

मनुष्यों में अपने परिवेश की वास्तविकता का अत्यन्त यथातथ्य चित्रण करने की सदैव विद्यमान प्रवृत्ति;

वास्तविकता को टुकड़ों - टुकड़ों में नहीं बल्कि सतततापूर्वक प्रस्तुत करने की योग्यता प्राप्त करने की मनुष्य की इच्छा, ताकि वह विभिन्न टुकड़ों को सम्बद्ध कर सके और उन्हें

अन्विति तथा अविच्छिन्नता प्रदान कर सके;

गति के भ्रम को प्रस्तुत करने का कोई साधन पाने की कलाकार की मनोग्रस्ति, तथा जनता की लोकप्रिय मनोरंजन की पुकार। यद्यपि अब तक सार्वजनिक प्रदर्शनों के लिए थिएटर विद्यमान रहे थे, तथापित वे कभी भी सभी के लिए सुलभ नहीं रहे।

मशीनरी और उद्योग के साथ सिनेमा के साहचर्य के बावजूद, ऊपर उल्लिखित तत्वों में से तत्व इस माध्यम को एक ही समय में एक लोक कला, एक सामाजिक उत्पाद, मनोरंजन के एक साधन और संप्रेषण की एक प्रणाली की विशेषताएं प्रदान करता है। एक सामाजिक उत्पाद होने के नाते वह उन सामाजिक समूहों की आवश्यकताओं और मांगों द्वारा अनुकूलित होता है, जिनकी उसने सेवा की और जिनकी सेवा वह समय-समय पर करता रहा है। बहुत प्राचीन काल से अर्थात् ग्रीक थिएटर, रोमन सर्कस, मध्ययुगीन चमत्कार-नाटकों एलिजावेथकालीन थिएटर आदि के समय से थिएटर को अनन्य बनाने की प्रवृत्ति रही है। सामाजिक पृष्ठ-पर में परिवर्तन होने के बावजूद शासक हमेशा बने रहते हैं - परिवर्तन केवल इतना होता है कि उनके स्थान पर दूसरे शासक आ जाते हैं। इस प्रकार उन्नीसवीं सदी में बुर्जुग वर्ग के लोग शासक थे और उन्होंने थिएटर को सर्वहारा वर्ग के लोगों के लिए कभी भी सुलझा नहीं होने दिया।

सिनेमा के शैशव काल में उच्चतर वर्गों के लोग सिनेमा को एक और नापसंदगी की नज़र से देखते थे और वे लोग बमुश्किल सिनेमा देखने जाया करते थे। इस प्रकार सिनेमा उसके आरम्भ होने के दस वर्षों बाद भी लगभग पूरी तरह से निर्धन वर्गों से बंधा रहा और उसे स्वयं को इस वर्ग की मांगों के साथ समायोजित करना पड़ता था, जो कि प्राथमिक रूप से नगरीय बस्तियों के बाहर संकेन्द्रित था। तथापि, नगरीय क्षेत्रों में उसके क्रमिक स्थानान्तर के साथ-साथ उसके स्वरूप में परिवर्तन आया, क्योंकि उसने नगरीय उच्चतर वर्ग के अपने ग्राहकों की अभिरुचियों के अनुसार स्वयं को परिवर्तित करने की आवश्यकता का अनुभव किया। वस्तुत: यह विकास-क्रम सन् 1907-08 के उस आर्थिक संकट के कारण उत्पन्न हुआ था, जिसकी वजह से लोग बेरोजगार हो गए थे, श्रमिक वर्गों के लोगों के लोगों की आमदनी कम हो गई थी और परिणामस्वरूप गैर-नगरीय बस्तियों में सिनेमाघरों की आमदनी में भी गिरावट आई थी। निर्धनता के कारण निर्धन लोगों की बस्तियों में सिनेमाघरों में दर्शकों का आना कम हो जाने की वजह से सिनेमा के एकाधिकारियों को इस बात पर फिर से सोचना पड़ा कि क्या नगरीय क्षेत्रों में धनी वर्गों की आवश्यकताओं के अनुरूप फिल्में दिखाकर उन्हें आकर्पित करना अधिक वांछनीय होगा। इस प्रकार कलात्मक सिनेमा का जन्म हुआ। इसके अतिरिक्त अब तक अभिनय के लिए केवल समाज के निम्नतर स्तरों के लोग उपलब्ध होते थे, किन्तु जब साहित्य के विपय लिए गए तो रंगमंच के प्रसिद्ध अभिनेताओं और अभिनेत्रियों ने (जैसे साराह बर्नहार्ट) ने अभिनय के लिए फिल्मों में पदार्पण किया और इस माध्यय की प्रतिष्ठा

बढ़ाई। तथापि, सिनेमा की भाषायी प्रगति के दृष्टिकोण से इसका अर्थ यह हुआ कि चलचित्रीय प्रतिमा का उपयोग मात्र किसी विशिष्ट साहित्यिक कृति की विषय-वस्तु के माध्यम के रूप में किया जाने लगा। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि सभी व्यावहारिक प्रयोजनों के लिए सिनेमा साहित्यिक कृति का सचित्र या चित्रात्मक संस्करण बनता जा रहा था। भारत में इस समय पौराणिक विषयों को लिया जा रहा था। यह तथ्य पर्याप्त समाजशास्त्रीय महत्व का तथ्य है।

इस प्रकार हम यह देखते हैं कि ऐतिहासिक दृष्टि से, कम से कम आरम्भिक अवस्थाओं में, चलचित्रीय भाषा अर्थात् इस माध्यम की अभिव्यक्ति के साधन के निर्माण पर विभिन्न कारकों का प्रभाव पड़ा, किन्तु बहुधा वह उस समय माध्यम में कार्य कर रहे कलाकारों के किन्हीं भी सचेतन प्रयासों के बजाय सामाजिक आर्थिक परिस्थियों के भीतर होने वाले उतारों-चढ़ावों द्वारा प्रभावित हुई। चूंकि कला की अन्य वस्तुओं के विपरीत फ़िल्मों के निर्माण की लागत बहुत अधिक और सारभूत होती है, इसलिए आर्थिक पहलू हमेशा वह सबसे भारी क्रास रहा है, जिसे कि सिनेमा के कलाकार को ढोना पड़ता है। सौभाग्यवश, प्रथम विश्व युद्ध के होने तक सिनेमा उन बंदिशों से मुक्त था, जो कि सेन्सरशिप के कारण पैदा होती हैं। तथापि, **प्रथम विश्वयुद्ध** के कारण परिस्थिति पूर्णतः परिवर्तित हो गई। जिस प्रकार ल्यूमिएरे बंधु और जॉर्ज मेलीस सिनेमा के पूर्वगामी व्यक्ति थे, उसी प्रकार फ्रांसीसी लोग चलचित्रीय माध्यम के अग्रणी थे और प्राथमिक प्रचारक थे. उनके सिनेमा की समृद्धि बहुत-कुछ विदेशी बाजारों पर निर्भर थी। किन्तु **प्रथम विश्व युद्ध** द्वारा लादी गई बंदिशों के कारण उन्हें उनकी प्राकृतिक सीमाओं के भीतर संसीमित रहने के लिए विवश होना पड़ा। परिणामस्वरूप, कुछ देशों के सिनेमाघरों का दिवाला निकल गया। जब **जर्मनी, रशिया और यू.एस.ए.** के राष्ट्रीय सिनेमाघरों में **फ्रेंच** फ़िल्मों का दिखाया जाना बंद हो गया तो इन देशों को इस प्रकार निर्मित शून्य को भरने के लिए विवश होना पड़ा।

प्रथम विश्व युद्ध का एक अधिक महत्वपूर्ण परिणाम, जिसने चलचित्रीय भाषा के ऐतिहासिक विकास में महत्वपूर्ण योगदान किया, **बोल्शेविक क्रांति** के बाद सन् 1917 में **सोवियत रशिया** का आविर्भाव था। सामूहिक प्रचार और संप्रेषक के एक माध्यम के रूप में सिनेमा की मान्यता के कारण फिल्म उद्योग का राष्ट्रीयकरण हुआ और शासन ने फ़िल्म-निर्माण को जनता की शिक्षा के एक साधन के रूप में अपनाया। तथापि, सन् 1926 तक, विश्व के विभिन्न देशों में निर्मित की जाने वाली सभी फिल्में मूक हुआ करती थीं और उनके निर्माण के समय ध्वनि का अभाव हुआ करता था। फिल्मों की यह मूकता संप्रेषण के एक तात्विक साधन के रूप में चित्रात्मक प्रतिमा के विकास में बहुत सहायक थी।

सिनेमा के विकास-क्रम के इस बिन्दु पर रेडियो के आविष्कार ने भी महत्वपूर्ण योगदान दिया और फिल्मों में ध्वनि को जोड़ने में तेज़ी आई। फिल्मों में बोले गए शब्द के अभाव



और घरों में सुने जाने वाले रेडियो सेटों के अनूठेपन से सिनेमा घरों में दर्शकों की संख्या प्रभावित हो रही थी। इसलिए फिल्मों से ध्वनि के जुड़ जाने से और फ़िल्म जाज़ सिंगर को मिली सफलता के कारण (यद्यपि दृष्टिक रूप में वह मूक फ़िल्मों से बहुत निम्न थी) फ़िल्में अधिक स्थानीयकृत होने लगीं और अलग-अलग भाषायी सीमाओं के भीतर संसीमित हो गईं। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि मूक सिनेमा का अत्यन्त महत्वपूर्ण गुण अर्थात् उसका सार्वलौकिक स्वरूप एक बार, फिर से व्यवसाय की अत्यावश्यकताओं और मांगों के कारण हमेशा के लिए खो गया। इस विकास-क्रम का एक अधिक अपरिहार्य परिणाम यह हुआ कि मूक फिल्मों के वे अभिनेता, जिनके लिए स्थानीय भाषा का अज्ञान तब तक बाधक नहीं था जब तक कि वे क्रियाओं और हाव-भावों के ज़रिए प्रभावपूर्ण संप्रेषण कर सकते थे, सिनेमा में ध्वनि के आ जाने के कारण रातोंरात गुमनामी के अंधेरे में खो गए। भारत की फ़िल्म आल्मआरा सिनेमा के मूक फ़िल्मों के युग से बोलती फिल्मों के युग में संक्रमण की प्रतीक है।

तथापि, सकारात्मक पक्ष में अलग-अलग राष्ट्रीय सिनेमा को सांस्कृतिक पहचान देने का एक क्रमिक प्रयास किया जा रहा था, जो कि स्वयं में अद्वितीय था। विश्व युद्ध के वर्षों के दौरान यह प्रयास बहुत गहन हो गया, जब विभिन्न देशों के सर्जनशील कलाकार **फासिज्म** के आविर्भाव के साथ पूरे **यूरोप** में विद्यमान अविश्वास और संदेह के वातावरण में जी रहे मनुष्य की दुर्दशा पर शोक प्रकट करने लगे। अन्तर्वर्ती वर्षों में **सोवियत रशिया** का अनुकरण करते हुए **नाज़ी जर्मनी** जैसे अन्य देशों ने फिल्मों का उपयोग प्रोपेगेन्डा के लिए करने का निर्णय किया था। इन दोनों के बीच महत्वपूर्ण अंतर यह है कि जहाँ **सोवियत रशिया** की फिल्में अधिकतर सामाजिक पुनर्निर्माण की दिशा में कार्य कर रही थीं और स्वयं इस माध्यम ने **पुदोव्किन, आइन्स्टाइस्, इवान्स, वर्तोव** आदि जैसे संवेदनशील बुद्धिजीवियों के कारम जबरदस्त औपचारिक प्रगति की वहाँ दुर्भाग्यवश, **नाज़ी जर्मनी** के **लेनी राइनफेन्स्टाल** जैसे प्रतिभावान फिल्म-निर्माता ऐंद्रिय प्रचार तथा खतरनाक और हानिकारक विचारधारा को आगे बढ़ाने में अपनी आपवादिक प्रतिभा को बर्बाद कर रहे थे।

इस अवस्था में चर्चा की आगे बढ़ाने से पहले, सिनेमा के एक अन्य पहलू का परीक्षण करना आवश्यक है। यह तथ्य उल्लेखनीय है कि सिनेमा अपने रूपविधायी स्वरूप के बलबूते पर कतिपय ऐसे कार्य करने लगा था, जो कि अब तक साहित्य द्वारा किए जाते थे। आरम्भिक दिनों में, जब सिनेमा नवजात अवस्था में था, सिनेमा में अर्थ के सम्प्रेषण और संवहन की जो शक्ति थी उस शक्ति का परीक्षण करने की किसी ने भी न तो बहुत चिंता की थी और न तो परवाह की थी। वस्तुतः वे सभी लोग, जो कि इस नए माध्यम का उपयोग करना चाहते थे, आरम्भ में अपने आसपास प्रतिमानों को ढूंढा करते थे। अपरिहार्यतः ये प्रतिमान अन्य कलाओं से उधार लिए जाने लगे। चूंकि सिनेमा मूलतः

सर्वहारावर्गीय था और फिल्में दिखाने के स्थानों के रूप में बाजारों के परिसरों को चुनना पड़ता था, इसलिए वह किन्हीं भी वस्तुतः जीविष्णु कलात्मक स्रोतों से अपने प्रतिमान न ले सका और उसे विज्ञान-कथा, फंतासी, जादू, भड़कीले नाटकों, कॉमिक सीरियलों जैसे, विभिन्न स्रोतों से उधार लिए गए सजावटी वस्त्रों से स्वयं को सजाकर एक उप-कलात्मक अस्तित्व को अपनाना पड़ा। वस्तुतः, जहाँ तक विषय- वस्तु का संबंध है, सिनेमा द्वारा कुछ भी आविष्कृत नहीं हुआ, और वह अन्य स्रोतों से ली गई सामग्री के संवहन के वाहन के स्तर तक नीचे गिर गया था। मेलीस, जो कि एक रंगकर्मी थे, पर्दे को हमेशा मात्र एक अन्य प्रकार का थिएटर मानते थे। इस बात ने स्वयं उनकी कथाचित्रण शैली को प्रभावित किया था, और वे अपने शॉट एक फ़ासले से लिया करते थे, जैसा कि रंगमंच पर होता है। इस प्रकार उन्होंने **चौथी अन्विति**, अर्थात् पर्दे और दर्शक वर्ग के बीच के फ़ासले को कायम रखा, जैसा कि साधारणतः रंगमंच में किया जाता है। दूसरी ओर अंग्रेज़ लोगों ने, जो कि **मैजिक लैन्टर्न** के अभ्यस्त थे, निश्चित अंतर की संकल्पना को नष्ट कर दिया और इस प्रकार वे सिनेमा में संपादन के जनक थे। इसके अलावा, रंगमंच में विभिन्न विचार-सम्प्रदायों के बीच विचारों की एकरूपता नहीं थी और परिपाटियों में समय-समय पर परिवर्तन हुआ करते थे। किन्तु विरोधाभास यह है कि, किसी अजीब कारणवश, (रंगमंच के साथ उसके प्रथम संपर्क के कारण) सिनेमा शास्त्रीय रंगमंच की ओर मुड़ा, न कि अपने प्रकृतिवादी प्रतिरूप की ओर और इस कारण उसे **डिब्बाबंद रंगमंच** कहा जाने लगा (**मार्सेल पैग्नोल**)। सिनेमा पर प्रकृतिवादी रंगमंच का मुख्य प्रभाव बहुत बाद में ध्वनि के आगमन के साथ पड़ा तथापि, सिनेमा के लिए निर्णायक समय **ग्रिफिथ** द्वारा साहित्यिक कथा-चित्रण की प्रणाली की खोज के साथ आया। इससे सिनेमा काल और दिक् में मुक्त गति को ठीक उसी तरह प्रक्षेपित कर सका, जिस तरह साहित्य में किया जाता था तथापि, चूंकि सिनेमा गोचर और मूर्त होता है, इसलिए जिन अमूर्त विचारों को साहित्य के जरिए संप्रेषित किया जा सकता है वे विचार सिनेमा में जीवनक्षम नहीं होते।

साहित्य में कथा-चित्रण के विभिन्न रूप, अर्थात् (क) नाट्यात्मक (ख) प्रगीतात्मक और (ग) महाकाव्यात्मक रूप से लिखित रूप हैं। इनमें महाकाव्यात्मक रूप को **चौथे दशक** में फ़िल्मों के लिए अनुकूलित किया गया। चूंकि **ग्रिफिथ** सिनेमा में कथा-चित्रण की साहित्यिक प्रणाली को आरम्भ कर चुके थे, इसलिए इसे सामान्य के रूप में स्वीकार किया गया। **चौथे दशक** के पूर्व, चरित्र और अंतर्द्वंद्व की प्रधानता के ज़रिए कथा-चित्रण की नाट्यात्मक प्रणाली प्रचलित थी। इन सभी मामलों में कार्यव्यापार को एक वस्तुनिष्ट रीति से प्रस्तुत किया जाता था, और जैसा कि साहित्य में होता है उसके विपरीत, फिल्म-निर्देशक अपनी टिप्पणियां नहीं करता था। किन्तु जब फिल्म निर्माता फिल्मों में चरित्रों के मुंह से बोलवाए गए संवादों और शब्दों के रूप में छद्मावरण में अपनी टिप्पणियाँ देने लगे, जैसा कि **जॉन फोर्ड** की फिल्म **हाउग्रीन वाज़ माइ व्हैली** और **आन्द्रे वाजदा** की फिल्म **कनाल** में

हुआ है तब चलचित्रीय भाषा ने लेखक का सिनेमा बनने की ओर मुड़ना आरम्भ कर दिया और लेखक की तटस्थता और अप्रतिबद्धता की अभिवृत्ति को त्याग दिया गया।

तथापि, चलचित्रीय प्रतिमा की गुणवत्ता के सम्बन्ध में, सन् 1918 तक, विचारों के संप्रेषक के रूप में उसकी संभाव्यता का समन्वेषण करने के लिए कोई भी सचेत न प्रयास नहीं किया गया। वाचेल लिन्डसे वे पहले व्यक्ति थे जिन्होंने फिल्म के इस पहलू का परीक्षण आरम्भ किया। जब सिनेमा ने स्टुडियो की सीमाओं के बाहर कदम रखा और स्टुडियो के पृष्ठ-पटों का स्थान वास्तविक पृष्ठ-पटों ने ले लिए तो फिल्म दिक् की त्रिविमता का समन्वेषण करने लगी तथा प्रकृति एक सक्रिय भूमिका ग्रहण करने लगी और कथा-चित्रण के विकास में प्रत्यक्ष योगदान देने लगी। इस प्रकार विभिन्न अवस्थाओं में चलचित्रीय प्रतिमा चित्रण की व्यक्तिनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ प्रणालियों के बीच तब तक मंडराती रही जब तक कि चलचित्रीय प्रतिमा को वास्तविकता में विद्यमान किसी स्रोत के साथ उसके साहचर्य से मुक्त करने और उसे अ-प्रतिनिधिक बनाने के प्रयास में उसकी स्वायत्तता का प्रश्न नहीं उठाया गया।

ऊपर कही गई बातों के चलते, इतिहास की तरह सिनेमा का आमना-सामना उस सत्य से हुआ, जो कि उसके दोहरे अस्तित्व से और उसे विवश होकर करने पड़ रहे द्वैध कार्य से सम्बन्धित था, अर्थात् (एक) बुनियादी तौर पर संप्रेषण के एक साधन के रूप में कार्य करते हुए वह एक मुद्रणालय के बतौर कार्य करता है और (दो) स्वयं को अपने सामाजिक कृत्यों तथा साहचर्यों से असंबद्ध करते हुए वह स्वतः अपने बलबूते पर एक कला के रूप में विद्यमान रहता है।

राजनैतिक प्रचार वाली फिल्मों के ज़रिए, जिनका आरम्भ बोल्शेविक रशिया के फिल्म उद्योग के राष्ट्रीयकरण के साथ हुआ, इतिहास और सिनेमा के बीच का बंधन प्रत्यक्षतः शाश्वत हो गया। जब चौथे दशक में नाज़ियों ने सत्ता ग्रहण की तो लेनी राइनफेन्स्टाल ने अपनी प्रतिभा को ऐसी फिल्मों को अत्यंत ऐंद्रिय स्वरूप की कृतियों में रूपांतरित करने में लगा दिया। ये कृतियाँ दर्शकों पर जिस प्रभावकारी शक्ति का प्रयोग करती थीं उस शक्ति के ज़रिए वे समस्त प्रतिरोध को छिन्न-भिन्न कर देने में सक्षम थीं।

प्रत्यक्षतः ऐतिहासिक स्रोतों पर आधारित तथ्यात्मक फिल्में होने के कारण ये फिल्में ऐतिहासिक प्रवर्ग की फिल्में हैं। तथापि ऐतिहासिक सिनेमा के अन्य पूर्ववर्ती युगों से लिए गए तथ्यों के कथात्मक पुनर्निर्माण के आधार पर बनी हैं। सिनेमा कुछ ऐसे संवेदनशील विषयों को आपवादिक सावधानी के साथ सामने लाने और चित्रित करने में सफल हुआ है, जो विषय आज मानवजाति के सामने हैं। **हिरोशिमा मां अमूर, लेट सेशन, आन्द्रेई रुब्लेव, इवान्स चाइल्डहुड, हार्टस एण्ड माइन्ड्स, शॉप ऑन दि मेन स्ट्रीट, एशेस एण्ड डायमन्ड्स, इलेक्ट्रिया, व्हिरिडियाना** जैसी फिल्मों को और एक-एक सभ्य प्राणी के रूप में मानव की प्रतिष्ठा को कायम रखने के लिए प्रतिबद्ध कलाकारों की विभिन्न अन्य कृतियों

को उदाहरण के रूप में रखा जा सकता है। भारत में भी **सुवर्णरेखा, शतरंज के खिलाड़ी, भवानी भवाई, गरम हवा** और **पार** जैसी फिल्में मनुष्य की प्रतिष्ठा के साथ ऐसी ही सरोकार प्रदर्शित करती हैं। किन्तु इतिहास का सर्वेक्षण और इतिहास के साथ अपने साहचर्य के कारण सिनेमा ने जो सत्तामीमांसा अर्जित की है उस सत्तामीमांसा द्वारा जनित प्रभाव के सर्वेक्षण से जो अशांत कर देने वाला और खेदजनक सत्य सामने आता है वह यह है कि मनुष्य ने इनमें से किसी से भी कुछ भी नहीं सीखा है। मनुष्य और समाज वही मूर्खताएं करते रहे हैं और अपने ही लोगों के प्रति बिना करुणा के और बिना खेद या पश्चाताप के वैसे ही अन्याय-अत्याचार करते रहे हैं।

इस परिस्थिति को दृष्टिगत रखते हुए कतिपय बहुत प्रसंगोचित प्रश्न उठते हैं: इतिहास की इन महत्वपूर्ण सच्चाईयों और वास्तविकताओं का मनुष्य की उत्तरवर्ती पीढ़ियों पर सुधारात्मक प्रभाव क्यों नहीं पड़ा?

क्या ऐसा इसलिए है क्योंकि मनुष्य स्वभाव से ही विश्वासघाती हैं?

या कि क्या इन सच्चाईयों और वास्तविकताओं में भावी पीढ़ियों को देने के लिए जो सबक हैं उन सबकों को संप्रेषित करने और प्रक्षेपित करने के लिए प्रयुक्त साधन में ही कोई मूलभूत त्रुटि है?

यदि हम बर्नार्ड शॉं की उक्ति पर ध्यान दें तो सम्भवतः वह साधन में ही त्रुटि होने की बात की पुष्टि करती है और उस प्रकार के अधिक आमूल शोधनकारी उपायों को आवश्यक और उचित बताती है, जिस प्रकार के उपायों का **साम्यवाद** औचित्यपूर्वक पूर्वानुमान कर रहा है और जिनके लिए वह तैयार है। किन्तु फिर एक बार इतिहास की हाल ही की घटनाएँ एक प्रति-प्रश्न प्रस्तुत करती हैं: **रखवालों की रखवाली कौन करेगा? (Quis custodiet ipsos custodes?)**। यह प्रश्न सोचने वाले मनुष्य को उलझन में डाल देता है।

दूसरी ओर, मनुष्य द्वारा संप्रेषण के लिए प्रयुक्त सभी कलात्मक प्रणालियों के सर्वेक्षण से यह प्रकट होता है कि सिनेमा के संभव अपवाद को छोड़कर, सभी अन्य प्रणालियों को अपने संप्रेषणात्मक कृत्यों के निर्वहन के लिए अवसर मिलता रहा और फिर भी जब-जब मनुष्यों द्वारा मनुष्यों के विरुद्ध शक्ति के दुरुपयोग, को और मनुष्यों द्वारा मनुष्यों की सम्पत्ति बलपूर्वक हड़प लेने की कभी भी तृप्त न होने वाली इच्छा को प्रतिबंधित करने का प्रश्न आया है तब-ज़ब वे प्रणालियाँ लड़खड़ा गई हैं। क्या ऐसा इसलिए होता है क्योंकि मनुष्य के आंतरिक मनोवैज्ञानिक पर्यावरण में कोई बुनियादी रिक्ति है, जिसमें सत्ता की प्यास पलती और पनपती है।

इतिहास का वस्तुनिष्ठ विश्लेषण करने पर हमें मनुष्य की इस प्यास के उद्गम को ढूंढते हुए ग्रीक लोगों के युग तक जाने में सहायता मिलती है, जहाँ से यह चीज़ आज तक चलती आई है। दिक् में स्थित वस्तुओं के बारे में ग्रीक लोगों का जो प्रत्यक्ष ज्ञान था वह संपूर्णतः



सदोष था, क्योंकि उसके चलते वे परिनिष्ठित वैज्ञानिक अन्वेषणों द्वारा प्रकट सत्य की क़ीमत पर अपनी व्यक्तिनिष्ठ पूर्वाभिरुचियों को अग्रता दिया करते थे। व्यक्तिनिष्ठ को वस्तुनिष्ठ पर हावी करने की इस पूर्वास्तिरुचि की एक प्रारुपिक अभिव्यंजना के रूप में वे कहते थे कि दिक् में जो वस्तुएं स्थित हैं उन्हें दिक् में उस प्रकाश के कारण देखा जाता है और वास्तविक आयाम प्राप्त होता है जो प्रकाश मनुष्य की आरम्भ में से निकलकर यात्रा करता हुआ उन वस्तुओं को स्पर्श करता है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि बाह्य दिक् में स्थित वस्तुओं का और जिस पर्यावरण से दिक् का निर्माण होता है उस पर्यावरण का तब तक कोई भी वास्तविक अस्तित्व नहीं होता जब तक कि वे व्यक्तिगत मनुष्यों के प्रत्यक्षण के परिसर के भीतर नहीं (भले ही स्वयं व्यक्ति उसी दिक् का एक भाग क्यों न हो)।

महाभारत में धनुर्विद्या की शिक्षा के दौरान अर्जुन ने जो दृष्टिकोण अपनाया था और जिसकी पुष्टि द्रोणाचार्य ने की थी वह दृष्टिकोण उपर्युक्त दृष्टिकोण का एक प्रारूपिक उदाहरण है और मनुष्यों में छिपी हुई उस प्रवृत्ति को दुहराता है, जो कि उन्हें व्यक्तिगत स्वार्थ के तर्क द्वारा आदिष्ट मार्ग पर निर्ममतापूर्वक बढ़ने के लिए प्रोत्साहित करती है। स्वामी केवल सेवक को ही आज्ञा नहीं देता, बल्कि दार्शनिक को भी आज्ञा देता है कि वह किस प्रकार की परिकल्पना करे। परिणामस्वरूप, चिंतन की उपर्युक्त प्रक्रिया ने सभी व्यक्तिनिष्ठ प्रकार के दर्शनों को ऐसे तर्क प्रदान किए है जो कि कुछ लोगों द्वारा अनेक लोगों के शोषण का समर्थन करते हैं। किंतु जब अधिकांश कलाकार स्वयं बेईमानी का

सहारा लेते हैं और अपने सामाजिक दायित्वों को न निभाने के बहाने ढूंढते हैं तो वे सत्य के मार्ग से विचलन कर रहे होते हैं और उन तथ्यों को प्रक्षेपित करना टाल रहे होते हैं जिनके प्रक्षेपण से प्रत्येक मनुष्य को उससे अपने समय की वास्तविकताओं का ज्ञान होगा। यदि समाज में व्यक्ति को परिस्थिति की वास्तविक अभिज्ञता को प्रत्येक व्यक्ति को मानवीय प्रतिष्ठा प्रदान करने में आरंभ-बिंदु के रूप में लिया जाता तो साधारण जन की निरक्षरता अन्तर्विवेकशील व्यक्तियों द्वारा साधारण जनता की राजनैतिक चेतना और संवेदनग्राहिता को पोषित करने के लिए किए गए प्रयत्नों के मार्ग में प्राथमिक बाधा रही है। आज समाज के पास संप्रेषण मे जो सभी साधन हैं उन साधनों में से संभवतः सिनेम इस सतत शून्य को भरने का अत्यंत उपयुक्त साधन है। हाल ही में वर्षों में संरचनात्मकतावादियों और संकेत विज्ञानवादियों के योगदानों को दृष्टिगत रखते हुए फिल्म निर्माता के पास के रचनात्मक उपकरणों की फिरसे जांचा-परखा गया है ताकि वे आने वाले वर्षों में मनुष्य की सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने योग्य हो सकें किंतु जब तक मनुष्य की प्रतिष्ठा को बढ़ाने के कार्य के लिए प्रतिबद्ध लोगों को सिनेमा के संसाधन उपलब्ध कराने के लिए कोई समुचित सामाजिक युक्ति अभिकल्पित नहीं की जाती तब तक फिल्म-निर्माण के लिए विशाल धनराशि की आवश्यकता अन्तर्विवेकशील कलाकारों को इस माध्यम का नियंत्रण अपने हाथों में लेने और उसका उपयोग एक सामाजिक उपकरण के रूप में करने से रोकती रहेगी। परिणामस्वरूप, इस माध्यम का नियंत्रण स्वहित और लाभ की भावना द्वारा अभिप्रेरित समाज के हाथों में ही बना रहेगा और इस माध्यम का उपयोग शोषण के एक वास्तविक उपकरण के रूप में किया जाता रहेगा, जैसा कि विश्व के अधिकांश हिस्सों में आज हो रहा है। टेलीविजन के आगमन से इस परिस्थिति में एक और खतरनाक आयाम जुड़ गया है। अपनी सहज सुलभता के कारण वह घर-घर में पहुच गया है, किन्तु वह थोड़े से अभिप्रेरित लोगों के हाथों में है, जो कि उसकी लगाम थामे हुए हैं। अपने वाले वर्षों में वह सारी विश्व में साक्षरता लाने और उसे बनाए रखने का अत्यंत शक्तिशाली उपकरण बनने वाला है। सिनेमा में जो सच्चे कलाकार हैं वे लोग ऐसी परिस्थितियों द्वारा प्रस्तुत चुनौतियों का, जैसी कि वे आज हमारी सामने हैं, मुकाबला कैसे करेंगे ? स्पष्ट है कि इस प्रश्न का उचित उत्तर सिनेमा के घनिष्ठ प्रतिस्थानी अर्थात् इतिहास द्वारा दिया जाएगा।

अनुवादः मो.रा.

भारत में पहली बार हिन्दी में

भारतीय फ़िल्म वार्षिकी' 92

वर्ष 1991 में भारतीय सिनेमा में कहाँ क्या हुआ- सम्पूर्ण विवरण एक साथ

- हिन्दी-मराठी-गुजराती-कन्नड़-उड़िया-तेलुगु-मलयालम फ़िल्मों के सर्वेक्षण
- अमिताभ बच्चन/ गोविन्द निहलानी/ मनमोहन देसाई/ मणि कौल के विशेष साक्षात्कार
- 1991 की फ़िल्मोग्राफी और घटनाएँ
- मद्रास/ बंगलौर/ त्रिवेन्द्रम/ बम्बई फ़िल्म समारोहों का सचित्र विवरण
- 1991 के राष्ट्रीय एवं फ़िल्म फ़ेअर पुरस्कार
- फ़िल्म इतिहास की रोचक जानकारी और पचास शिखर पुरूषों का जीवन वृतांत
- फ़िल्म क्षेत्र में कार्यरत सौ फ़िल्मकारों/ फ़िल्म समीक्षकों का परिचय
- सत्यजीत राय का बहुरंगी आवरण और श्याम बेनेगल के विचार

संग्रह और सन्दर्भ के लिए महत्वपूर्ण।

मूल्य : चालिस रूपए (पेपर बैक) / सौ रूपये (सजिल्द) .
रजिस्ट्री शुल्क 40 रूपये (पेपर बैंक), 100 रूपये (सजिल्द) अतिरिक्त।

सम्पर्क:
मध्यप्रदेश फ़िल्म विकास निगम
ई- 1/90 अरेरा कॉलोनी भोपाल- 16
फोन : 566908, 563810

इतिहास के फिल्मी लेखन का प्रश्न

मार्क फेरो

समस्या यह है कि क्या सिनेमा और टेलीविजन इस तथ्य को दृष्टिगत रखते हुए कि इतिहास का उद्देश्य अतीत की घटना का मात्र ज्ञान प्रदान करना नहीं है, बल्कि अतीत और वर्तमान के बीच की कड़ियों का विश्लेषण करना और नैरंतर्य तथा विच्छेदों की तलाश करना भी है, इतिहास के प्रति हमारी दृष्टि को उपांतरित कर रहे है।

इसमें कोई संदेह नहीं है कि पिछले कुछ दशकों में इस समस्या ने नया रूप धारण कर लिया है; पश्चिमी समाजों में टेलीविजन देखने में बिताया जाने वाला समय बढ़ता ही जा रहा है, जहाँ कि वह *समान्तर शाला* बन गया है। इसके अतिरिक्त भूतपूर्व उप-निवेशों के लोगों के लिए, विशेषतः उन लोगो के लिए, जिनकी कोई लिखित ऐतिहासिक परंपरा नहीं रही है, ऐतिहासिक ज्ञान अन्यत्र से कहीं अधिक मीडिया पर निर्भर है, भले ही एक सुदृढ श्रुति-परंपरा उत्तर जीवी हो।

फिर भी यह कोई नई समस्या नहीं है। जानकारी के रूप में और ज्ञान के रूप में ऐतिहासिक विज्ञान के सामने इसी स्वरूप की समस्याएँ पहले भी आ चुकी है; उपन्यास तथा नाटक, कम से कम हमारी विसरित स्मृति में ऐतिहासिक ज्ञान के *विजयी शत्रु* रहे है। इतिहास

की किसी कृति के विपरीत,जो कि आवश्यक रूप से दूरी और वैश्लेपिक विकासों के साथ बदलती है, कला की कोई कृति स्थायी, अपरिवर्तनशील बन जाती है। भले ही कलाकृतियाँ, अनेक है; फिर भी समस्या वही बनी रहती है। रूस में नेपोलियन का मामला एक उदाहरण है। सोवियत संघ में,जहाँ नेपोलियन के व्यक्तित्व के प्रति अन्यत्र की अपेक्षा अधिक आकर्पण है,आज इतने अधिक भिन्न-भिन्न पोर्ट्रेटों के बीच उसकी कौन सी छवि विजयी है? क्राइस्ट-विरोधी, बर्वर, निरंकुशशासक, प्रामेथियन शहीद, या जीनियस, रहस्यमय बैताल? पुश्किन के लिए एक महाकाव्य नायक, दोस्तोवस्की या टॉल्सटाय के लिए एक दार्शनिक, मार्क्सवादियों के लिए सबूत इनमें से कौन सी छवि विजयी होती है ? इतिहासकारों की कृति नहीं।

आज सिनेमा और टेलीविजन के कारण इतिहास अभिव्यक्ति के एक नए रूप का अनुभव करता है, इससे उसकी बोधगम्यता में क्या वृद्धि होती है? फिल्म बैटलशिप पोटेम्किन पूर्वगामी समस्या से जुड़ी है: 1905 की क्रांति के बिंब,जो कि हमारी स्मृति पर छाये हुए है, अधिकतर आइन्स्टाइन की कृति से लिए गए बिंब है। गांस की फिल्म नेपोलियन के बर्फ के गोलों के दृश्य की तरह, इन फिल्मों के अधिकांश दृश्य उसके निर्देशक की कल्पना की उपज हैं। इन महान कृतियों का वैचारिक प्रभाव ऐसा रहा है कि एक प्रकार के पवित्र आतंक ने लंबे समय से उनके विश्लेषण को प्रतिषिद्ध कर रखा है। उनका विश्लेषण उन लोगो की दृष्टि में अपवित्रीकरण हुआ होता, जिनकी दृष्टि में सिनेमा एक नई श्रुति था।

वस्तुतः ऐतिहासिक फिल्म की ओर देखने की अनेक रीतियाँ है। इन रीतियों में सबसे सामान्य रीति में जो कि विद्वता की परंपरा से विरासत में मिली है,इस बात का सत्यापन किया जाता है कि पुनर्निर्माण परिशुद्ध है या नहीं; 1914 के सैनिक गलती से हेल्मेट तो नही पहन रहे है (जो कि 1916 के बाद प्रचलन में आये थे); आंतरिक सज्जा और बाह्य सज्जा सही है, या नहीं, संवाद प्रामाणिक है या नहीं, अधिकांशतः फिल्म-निर्माता इस परिशुद्धता पर ध्यान देते है; वे अंतरंग सज्जा के विद्वानों से सहायता मांगते है,जिनके नाम श्रेय-नामावली में सबसे नीचे चले जाते हैं। कुछ निर्माता बहुत अधिक परिशुद्धता लाना चाहते हैं, वे इतिहास में जाते है और इतिहासकारों जैसी खोजबीन करते है; वे साइलेशिया की अवभाषिका (फ्लीशमान) कमिसारों की भाषा (अल्लिमो) आदि का उपयोग करते हुए संवाद को उसका प्राचीन स्वाद लौटाने की कोशिश करते है। इनमें से तावर्निए जैसे कुछ फिल्म-निर्माता इन्हीं खोजबीनों के कारण प्रसिद्ध हुए हैं; अन्य फिल्म-निर्माता,जैसे कि फिल्म स्पाइडर्स स्ट्रैटेजेम में बर्तोलुस्सी, यह जानते है कि एक मामूली लाल स्कार्फ का उपयोग करते हुए या जगमगाहट में एक अपरिभाव्य परिवर्तन करते हुए किसी बहुत दूर के अतीत या किसी काल्पनीक विश्व का चित्रण कैसे किया जा सकता है। विद्वतापूर्ण, प्रत्यक्षवादी प्रेक्षण में अन्य निकषों के प्रति आकर्षण के अपवर्जित



नहीं छोड़ता । उदाहरणार्थ **एलेक्जेन्डर नेव्हस्की** और **आन्द्रे रूब्लेव्ह** की उपलब्धि दो कलाकारों के कारण है, दोनों ही इन बातों की बहुत मांग करते है, तथापि उन्होंने विरूद्ध अर्थों वाली दो फिल्में बनाकर इतिहास के उन्हीं (या लगभग उन्हीं) क्षणों को जीवित कर दिया । **नेव्हस्की** में जर्मन लोग, **ट्यूटन** लोग नैतिक शत्रु है, जबकि **रूब्लेव्ह** में **चीनी** लोग और **तातार** लोग नैतिक शत्रु है । **रूब्लेव्ह** में जो चीज रशिया को बचाती है वह है उसकी पवित्रता, उसकी ईसाई धर्म, जबकि **नेव्हस्की** में नायक को जानबूझकर साधारण मनुष्य बनाया गया है । हम इसे समझते है, हम स्वेच्छया फिल्म की विचारधारा और फिल्मनिर्माता की योजना को अलग-अलग कर देते है ।

बहुधा ऐतिहासिक फिल्म की ओर देखने की यह अंतिम रीति पहली रीति को विस्थापित कर देती है, फिल्म का गुण-विवेचन उसके अर्थ और उसके सार की दृष्टि से किया जाता है । यह देखना आसान है कि विचारधारा द्वारा प्रभावित समाज में देखने की इस रीति का वर्चस्व हो गया । यह स्पष्ट है कि **आबेल गॉस** तथा **ज्याँ रेनुआ** फ्रांसीसी क्रांति के दो परस्पर विपरीत रूपों के दर्शन कराते है । **आबेल गाँस** ने जो रूप प्रस्तुत किया है वह **बोनापार्टवादी** ओर **पूर्व-फासीवादी** रूप है, जो कि नियति-पुरुष का गौरवगान करता है, और **ज्याँ रेनुआ** ने जो रूप प्रस्तुत किया है वह मार्क्सवादी है और वह महापुरुषों के अस्तित्व की भी उपेक्षा करता हैं । एक मामले में, जैसा कि दूसरे मामले में, फिल्म-निर्माता इतिहास में वे तथ्य और तत्व चुनता है, जो कि उसे उसके निदर्शन के लिए सामग्री प्रदान करे और उसे अपने चुनाव को उचित एवं जायज साबित करने की आवश्यकता न हो, और दूसरे तथ्यों तथा तत्वों को छोड़ देता है । इस प्रकार वह स्वयं को प्रसन्न करता है और

उन लोगों को प्रसन्न करता है जो कि उसके विश्वास में हिस्सेदार होते है और उसके *लोग* होते हैं। यदि, जिस हेतुक का वह प्रतिवाद करता है उस हेतुक में लोग व्यापक रूप से हिस्सेदार होते हैं तो फिल्म-निर्माता की प्रतिष्ठा और वित्तीय सफलता बढ़ जाती है। यह बात आवश्यकत: ऐतिहासिक विश्लेषण पर, अर्थात घटना की बुद्धिगम्यता पर लागू नहीं होती।

इस दृष्टिकोण से **कुब्रिक** की फिल्म **पॉथ्स ऑफ ग्लोरी** एक उदाहरण है, जो कि कुछ समस्याएं उपस्थित करती है। परिस्थितियों का उसका चुनाव (सभी प्रामाणिक)– जिस ढंग से वह सैन्य-अधिक्रम के सबसे ऊपर के स्तर से लेकर सबसे नीचे के स्तर तक व्याप्त नैतिक भ्रष्टाचार पर किसी भी कीमत पर आक्रमण करने के अभिप्राय का खुलासा करती है– वह ढंग ऐसा है कि वह सैन्य तंत्र विरोधवादियों, लोकतंत्रवादियों और वामपंथियों को प्रसन्न करता है। तथापि, दुरुपयोगों का संचयन इतना अधिक हो जाता है कि वह विश्वसनीयता को निष्प्रभावी कर देता है, और वेटेरन्स समूहों के जन्म और चिरस्थायित्व को अनव बोध्य बना देता है, जहाँ — 1918 के बाद— एक लंबे समय तक सैनिकों और अधिकारियों के बीच भातृभाव बना रहा।

इस प्रकार हमें यह अनुभूति होती है कि ऐतिहासिक फिल्म या बहुधा, इतिहास के बारे में बनायी गयी फिल्म इतिहास के एक ऐसे दर्शन का, जिसे दूसरे लोगो ने परिकल्पित किया हो, मात्र फिल्मी प्रतिलेखन है।

इसमें संदेह नहीं है कि किसी विशिष्ट कहानी के नवोन्मेषी चुनाव के जरिए कुछ फिल्म निर्माता कतिपय ऐतिहासिक घटनाओं को बोधगम्य बनाते हैं, और वे ऐसा एक सर्जनात्मक ढंग से करते है। उदाहरणार्थ फिल्म **दि डैक्ट** में **विस्कोंती** उन लोगो के लिए मार्ग प्रशस्त करते है, जो लोग यह जानना चाहते हों कि नाजिज्म ने जर्मनों के ऊपरी बूर्जुआ वर्ग में अन्तःप्रवेश कैसे किया। इसके अतिरिक्त, इस मामले में चुने गये फॉर्म और कथानक ने फिल्म की प्रच्छन्न विचारधारा को अपारदर्शी बना दिया है। यह विचारधारा— विशेषत: **विस्कोंती** की विचारधारा इतिहास का अर्थ ह्रास मानती है। उनकी प्रत्येक कृति, जैसा कि **इस्पेगपौर** (Ispaghpour) ने दर्शाया है, हर ऐसी चीज के लिए शोक गीत है, जो कि हर नई चीज की प्रबलता के कारण विलुप्त हो जाती है।

उन सभी फिल्मों के संबंध में मामला भिन्न है, जो कि समाचार पत्रों मे छपे समाचार (Fait divers) को समाजिक तथा राजनैतिक कार्यकरण के सूचक के बतौर उपयोग में लाते है। वस्तुत: रेनुआ (Renoir), रोजोलिनी (Rossellini), गोदार्द (Godard) और शाब्रोल (Chabrol) ने जोला (Zola) और सार्त्र (Sartra) से सामग्री ली है। केवल इन्हीं फिल्म-निर्माताओं ने इस प्रक्रिया को अतीत में भी उतना ही प्रयुक्त किया है जितना कि वर्तमान में प्रयुक्त किया है, और इस प्रकार उन्होंने इतिहासकारों को पीछे छोड़ दिया है।

इस प्रकार प्रधान विभेद इतिहास से परिवेश ग्रहण वाली फिल्मों (जैसाकि दि ग्रैन्ड इल्यूजन

या गॉन विथ दि विन्ड में हुआ है) और इतिहास को विषय के बतौर लेकर बनायी गयी फिल्मों (उदाहरणार्थ डैन्टन) के बीच नहीं है, क्योंकि विषय-वस्तु चाहे जो भी हो फिर भी जोड़-तोड़ हो सकती है, बल्कि विभेद स्वयं को विचार की प्रबल (या विरोधात्मक) धाराओं में रख देने वाली फिल्मों और इसके विपरीत, समाजों के परस्पर निर्भर या नवोन्मेषी दृष्टिकोणों को प्रस्तावित करने वाली फिल्मों के बीच है।

इस प्रकार सिनेमा मे विश्लेषण या प्रति-विश्लेषण का कार्य केवल दो स्थितियों में हो सकता है। पहली स्थिति तो यह है कि फिल्म-निर्माता स्वयं को वैचारिक शक्तियों और शासी संस्थाओं से पृथक कर लें (प्रोपेगेन्डा फिल्मों के निर्देशकों के मामले में ऐसा नहीं है) यदि वे ऐसा न करें तो उनका कार्य केवल प्रबल (या विरोधात्मक) वैचारिक धाराओं को एक नये रूप में बढ़ाता है।

एक दूसरी स्थिति स्पष्टतः यह है कि लेखन सिनेमा के लिए ही हो (उदाहरणार्थ, फिल्मांकित रंगमंच के लिए न हो) और यह कि वह सिनेमा की विशिष्टता का उपयोग करे।

ऐतिहासिक घटनाओं की बोधगम्यता के प्रति सिनेमा का योगदान उसकी स्वायत्तता की मात्रा और उसके सौंदर्यपरक योगदान के अनुसार कम या अधिक होता है।

इन फिल्मों का संबंध चाहे महान व्यक्तियों के इतिहास से हो (नेव्हस्की, नेपोलियन, जनरल कस्टर आदि) या फिर उनमें समूहों के कार्य को उभारा गया हो (पुदोव्हकिन की फिल्म मदर, रेनुआ की फिल्म ला मार्सेलेस आदि) फिर भी ये फिल्में विचार के प्रबल (या विरोधात्मक) प्रवाहों को पुनः प्रस्तुत करता हैं । अपने सौंदर्य के जरिए वे फिल्में जिस आनंद को जगाती है वह आनंद समाज और इतिहास पर प्रभाव डालने की उनकी क्षमता की गवाही ही देता है— चाहे वे प्रभाव डालना चाहती हों या न चाहती हों । उदाहरणार्थ, फिल्म दि ग्रैन्ड इल्यूजन बनाकर रेनुआ इतिहास को प्रभावित कर शांति के लिए कार्य करना चाहते थे। कृतियों के इस प्रवर्ग में अगला कदम तब उठाया जाता है जब कलाकार किसी घटना का पुनर्निर्माण करता है और पुनर्निर्माण करके ही रुक नहीं जाता : फिल्म स्ट्राइक के मामले में यही हुआ है, जहाँ आइन्स्टाइन ने 1905 के पूर्व के एक रूसी कारखाने के एक मार्क्सवादी विश्लेषण का एक फिल्मी प्रतिलेखन किया है।

चूंकि वे फिल्मों धारा या शासवी सत्ता के विरूद्ध जाती हैं इसलिए उन्हें विपरीत चिन्ह के अन्तर्गत रखा जाता है, फिर भी वे सामूहिक क्रिया में अन्तर्ग्रस्त है। उन फिल्मों का कार्य प्रभुताशाली प्रणाली के विरूद्ध लड़ना है। साल्ट ऑफ दि अर्थ या अधिकांश पोलिश ऐतिहासिक फिल्मों या रूब्लेव्ह या सेद्दो की फिल्मों जैसी फिल्मों का योगदान अविभत्र्य है, ये फिल्में न केवल संघर्ष की गवाह है, बल्कि संघर्ष में अन्तर्ग्रस्त हैं।

जो फिल्में किसी भी प्रकार के संबंधन से स्वतंत्र विश्लेषण से आती है और जो, इसी के



साथ विनिर्दिष्टतः अभिव्यक्ति के फिल्मी साधनों का उपयोग करती है, उन फिल्मों पर अलग से विचार करना समुचित जान पड़ता है। इस दृष्टिकोण से एक प्रारूपिक उदाहरण है फ्रित्ज लैंग की फिल्म एम । एक मनोरोगी की कहानी के जरिए इस फिल्म में यह दर्शाया गया है कि वाइमार गणतंत्र किस प्रकार से कार्य कर रहा था; समानान्तर मोंताज का उपयोग, ध्वनि और बिंब का क्रमांतरण कथन को एक ऐसा रूप देते है, जो कि केवल सिनेमा में पाया जा सकता है । विश्लेषण की प्रक्रिया की भांति ही विचार नवप्रवर्तक भी है और स्वतन्त्र भी।

एम एक उदाहरण है। किन्तु ऐसी अनेक फिल्में है, जो कि समाजों को समझने में अपना योगदान देती हैं, कज़ान, रेनुआ या न्यू वेव्ह की फिल्मों का उल्लेख किया जा सकता है, जो कि समाचार पत्रों में छपे समाचारों की बदौलत, वर्तमान समय के (एक ऐसे समय के, जिसकी जड़ें अतीत की विरासत में भी है) सामाजिक विश्लेषण को लेकर आगे बढ़ सकीं।

डाक्युमेन्ट्री फिल्मों के अतिरिक्त, जो कि वर्तमान के बिंब का परिरक्षण करती हैं, और अतीत का जो कुछ शेष है उसका भी परिरक्षण करती है, या कि जो फिल्में समाजों की स्मृति का उपयोग करती हैं (जैसे कि ज्याँ रूश की फिल्म बाबातू एत लेस त्रोदू कांसेल्स), उन फिल्म- निर्माताओं को भी एक तरफ रखा जा सकता है, जो कि इतिहास का वैश्विक निर्वचन प्रदान करते है – एक ऐसा निर्वचन, जो कि उनके विश्लेषण से उत्पन्न होता है और जो कि किसी पुनर्निर्माण का पुनर्निर्माण नहीं होता, बल्कि वह विगत घटनाओं को और वर्तमान से उनके संबंध को समझने में एक मौलिक योगदान होता है। साइबरबर्ग, तारकोवस्की और विसकोंती का कार्य इस प्रवर्ग में आता है, जहां हम उनके विश्लेषण की प्रामाणिकता का अनुभव कर सकते है।

अनुवाद : मोरेश्वर रामपल्लीवार

मातृसत्तात्मक भावना का पुनर्जागरण

आधुनिक कला रूपों में मातृसत्तात्मक भावना के पुनर्प्रचलन बारे में हमें भरपूर जानकारी मिलती है। विषेशकर **इडिपस-काम्प्लेक्स** के संदर्भ में बीसवीं सदी के प्रारम्भिक दशकों में मातृसत्तात्मक विचारों को फिल्मों के माध्यम से भी खासा प्रचार प्रसार मिला। कई लेखकों, नाटककारों और फिल्म निर्माताओं ने यह महसूस किया कि स्त्री सामाजिक, धार्मिक और अपने परिवेश की मान्यताओं के वशीभूत रहकर स्त्री तुल्य आचरण व्यवहार से स्वयं को अलग नहीं कर सकती इसलिए उन्होंने ऐसे स्त्री-पात्रों की रचना की जो सांसारिक-अलौकिक, तिलस्मी-वास्तविक, रहस्यमय-सहज कुछ दिव्य कुछ पैशाचिक गुणों में रचे-बसे लगते हों। यही कारण था कि द **इन्फरनल मशीन, ला पेरेन्टस टेरीबल्स, लादरी दि बाइसिकलेट (बाइसिकल थीफ)** , द **पैशन ऑफ जोअन ऑफ आर्क**, तथा द डे ऑफ राथ उन फिल्मों में से थी, जिन्हें इसलिए प्रसिद्धि मिली क्योंकि इनके स्त्री पात्र असाधारण प्रकृति के थे। ये स्त्री-पात्र ज्योतिष-विद्या, मंत्र-तंत्र और जादू-टोने में निहित शक्तियों के बल पर पुरुष-सत्ता को चुनौती देने लगते थे।

फ़िल्मकार ज्याँ काकटियू ने द इन्फ़रनल मशीन में स्फिन्क्स के अलौकिक व रहस्यात्मक रूप को अत्यंत विस्तार से फिल्माया था। यह स्फिन्क्स एक स्त्री रूपा नरकदूत है; शारीरिक और नैतिक भ्रष्टाचार की बू में सनी एक पाश्विक शक्ति; मृत्यु की प्रतिमूर्ति वह हर नवयुवक की नैतिक और शारीरिक पवित्रता के लिए एक खतरा है। हर युवा को उस पर विजय हासिल करनी है। ज्याँ काकटियू की स्फिन्क्स अत्यन्त लावण्यमयी नवयौवना है; कामुकता का मूर्तरूप। वास्तव में वह पशु देव अनुबिस का एक पैशाचिक प्रलोभन है। किन्तु काकटियू ने उसमें स्त्री-तुल्य गुणों का समावेश करके उस चरित्र को एक अलग पहचान दी। उपरोक्त सभी विशेषताओं के साथ साथ काकटियू की स्फिन्क्स एक अक्षत कुंवारी भी है। वह नवयुवकों को अपने मोहजाल में कसने को लालायित है - शालीनता से न कि दुष्टता से - ताकि वे कौटुम्बिक व्यभिचार से स्वयं को मुक्त रखें। किन्तु इडिपस नियति के चक्र में फसा कौटुम्बिक व्यभिचार (स्वयं की माँ से प्रेम) करने के लिए अभिशप्त है। अनुबिस ने स्फिन्क्स को नेमेसिस कहा था अर्थात प्रतिशोध की देवी जबकि फिल्मकार काकटियू ने उसे एक ऐसी युवा स्त्री बताया जो इडिपस के प्रेम की अभिलाषी है। उसमें प्रलय और प्रतिशोध की देवियाँ - फ्यूरेज तथा दया और प्रेम की देवी मिनर्वा के मिले-जुले गुण मौजूद हैं। वह द्वि-व्यक्तित्व को जीती हुई हर प्रकार से इडिपस को अपने वश में किये रहना चाहती है पर नियति के नियम को पूरा करने के लिये वह जैसे ही इडिपस कौटुम्बिक व्यभिचार के पाप मे फंसकर अपने नैतिक पतन और दुखान्त की ओर अग्रसित होता है। काकटियू ने सिद्ध किया कि स्फिन्क्स इडिपस से अधिक बुद्धिमान और सर्वगुण सम्पन्न थी।

विट्टोरियो डी सिका की फिल्म लेदरी दि बाइसिकलेट या बाइसिकल थीफ मातृसत्तात्मक भावनाओं के पुनर्जागरण का एक महत्वपूर्ण उदाहरण मानी जाती हैं।

उन दिनों इटली में महिला ज्योतिषियों, दृष्टाओं की बहुतायत थी। युद्ध के उपरांत तो इस प्राचीन प्रथा को जैसे पुनर्जीवन प्राप्त हुआ। इन ज्योतिषियों और दृष्टाओं में लोगों की बढ़ती रुचि और आकर्षण का कारण खासा वैचारिक और मनोवैज्ञानिक था, वह यह कि पुरुष-सत्ता की प्रतीक संस्थाएं जैसे चर्च यादि धार्मिक मठ-प्रतिष्ठान और राज्य-शासन दोनो ही अपने दायित्वों का निर्वाह न कर सके और असफल रहे। इन्सानी खुशहाली उत्थान और समृद्धी का दम्भ भरने वाली इन संस्थाओं ने मनुष्य को मायूसी, अस्थिरता और दिशाहीनता की कगार पर ला खड़ा किया था पुरुष सत्ता की असफलता के प्रतीक चर्च और राज्य को चुनौती देने के लिये महिला भविष्यवक्ताओं का प्रादुर्भाव हुआ। **बाइसिकल थीफ** में हीरो (एक कर्मचारी) की साइकल चोरी हो जाती है। पुरुष सत्ता की प्रतीक शक्तियाँ अर्थात मजदूर संघ, धर्म और पुलिस विभाग सभा निष्क्रिय, अनुपयोगी और उदासीन सिद्ध होते हैं। कर्मचारी की पत्नी महिला भविष्यदृष्टा से अत्यन्त प्रभावित रहती है क्योंकि उसी की भविष्यवाणी के बतौर उसके पति की नौकरी लगी थी।



भविष्यदृष्टा कर्मचारी से कहती है, साइकिल मिलेगी भी और नही भी मिलेगी निराश होकर कर्मचारी जैसे ही बाहर आता है कि उसे सायकिल चोर नज़र आ जाता है। वह चोर को पीटता है पर चोर के पड़ौसी मित्र कर्मचारी की धुनाई करते हैं। पुलिस भी चोर को निर्दोष साबित करती है। निराश कर्मचारी जब घर लौट रहा होता है तो उसे एक साइकिल टिकी हुई नज़र आती है। कर्मचारी उसे ही चुराकर भाग निकलता है पर पीछा करती भीड़ से बच नहीं पाता, किन्तु साइकिल का मालिक सहृदयतावश कर्मचारी के खिलाफ कोई शिकायत नहीं करता। इस प्रकार महिला भविष्यदृष्टा की भविष्यवाणी सही साबित होती है। किन्तु फिल्म का उद्देश्य यह दर्शाना था कि एक कर्मचारी वर्तमान वातावरण में निस्सहाय है। वह अपनी सम्पत्ती की रक्षा और अपने अधिकारी के लिये नहीं लड़ सकता। भविष्यवाणी करने वाली स्त्रियाँ भी उसे वास्तविक संकट से बचा नहीं सकती। इतना मानना होगा कि प्रतिशोध की देवी कर्मचारी पर हावी होती है इसलिए वह चोरी के बदले चोरी करने को उद्दत होता है।

बाइसिकल थीफ की महिला भविष्य दृष्टा की तरह टी. एस. इलियट की आधुनिक समाज पर सटीक व प्रहारक टिप्पणी करती कविता **वेस्ट लैण्ड** में मादाम सोसोस्ट्रीज नाम क्लेअरवाएन्ट (अतीन्द्रियदर्शी) का वर्णन है। इलियट ने इस महिला को यूरोप की सर्वाधिक बुद्धिमान महिला निरूपित किया है।

इस महिला मे स्त्री-सत्ता के सभी गुण विद्यमान है। इतिहास, साहित्य और मिथकों में वर्णित मातृसत्तात्मक विचारों और चेष्टाओं को पितृसत्तात्मक समाज ने हमेशा बगावत की संज्ञा दी है। मौज़ार्ट के मैजिक फ्लूट में यौन बर्बरता के जरिये दैविक श्रेष्ठता का दावा करने

की अनुगूंज स्पष्ट है। मेरेजकोवस्की ने लियोनारदो द विन्ची पर एक पुस्तक लिखी द रोमान्स ऑफ लियोनारदो द विन्ची। लेखक ने लियोनारदो को वैज्ञानिक शक्तियों से लेस पितृ-सत्ता का प्रतीक माना है। उसकी मुठभेड़ काले-जादू में निपुण एक जादूगरनी चुड़ैल से होना वर्णित किया गया है। यहाँ चुड़ैल मातृ-सत्ता का प्रतीक है।

डेनमार्क के मशहूर निर्माता **कार्ल-थियोडोर ड्रेअर** ने गिरजाघर के पादरियों और चुड़ैलों के बीच चलते संघर्ष को दर्शाती दो फिल्में बनाई **द पैशन ऑफ द जोअन ऑफ आर्क** (1928) तथा **द डे ऑफ राथ** (1943)। दोनों फिल्मों की थीम मातृ व पितृ सत्तात्मक शक्तियों के बीच अनवरत चल रहे संघर्ष पर आधारित है।

वास्तविक जीवन से जुड़ी तमाम संवेदनाओं को अत्यन्त नरमी से स्पर्श करती फिल्मकार काकटियू की फिल्म **द स्टॉर्म विदिन** मध्यम वर्गीय परिवार की अंदरूनी भावनाओं और उनसे उत्पन्न हलचलों का अतयन्त सूक्ष्मता से अध्ययन करती है।

द स्टॉर्म विदिन में एक परिवार है इस परिवार में एक विप्लव होता है, तव जब सब पर यह राज़ खुलता है कि अपनी पत्नी के ठण्डे रुख और उसकी अपने पुत्रों में बढ़ रही अत्यन्त आसक्ति से त्रस्त होकर परिवार का मुखिया किसी दूसरी महिला में दिलचस्पी लेने लगता है। विडम्बना यह है कि उसका पुत्र भी उसी महिला से प्रेम सम्बन्ध रखता है और उससे विवाह रचाने का इच्छुक है। माँ-बेटे और पिता के रिश्तों का चक्र अलग अलग धुरी पर घुमता हुआ एक दूसरे से संघर्षरत है। माँ एक सौतन को संभवतः सहन कर लेती पर वही स्त्री जिसकी बहू भी हो यह असहनीय था अतः जब प्रेमी-प्रेमिका का मिलन होता है तो माँ जहर खाकर अपने प्राण त्याग देती है। सुखान्त के बजाए फिल्म का दुखान्त हो जाती है। फिल्म में माँ और बेटे के बीच मुलाकातों में अत्यंत घनिष्टता झलकती है और मातृ-सत्ता के तत्व मुखरित होते जाते हैं। मनोवैज्ञानिक स्तर पर भी फिल्म कई सवालों को जन्म देती है। काकटियू ने सभी स्त्री पत्रों को पुरुप पात्रों से श्रेष्ठतर रखा है और उनमें बौद्धिक क्षमता भी पुरुपों की बुद्धिमत्ता से अधिक बताई गई है।

माँ पति और पुत्र के व्यवहार से विक्षिप्त होकर दृष्टा बन जाती है। यद्‌पि उसका पुत्र उसके सामने नहीं रहती फिर भी वह उसकी सभी गतिविधियों को अनोखी शक्ति के वशीभूत वर्णित करती जाती है। जैसे ही उसे यह असाधारण गुण प्राप्त होता है उसी समय से दर्शक को आभासित हो जाता है कि उसकी मृत्यु निकट है।

पुत्र ने अपनी माँ का नाम प्यार से **सोफी** रखा था। सोफी या सोफिया बुद्धि या ज्ञान की देवी है। ऑरफी या **आरफियस**, **द मिरेकल** और **द मडलार्क** इन सभी फिल्मों में मातृ-सत्ता का प्राधान्य है। कुछ नाटक भी लिखे गये जो अपनी **वोल्ड थीम** के कारण काफी प्रचलित हुए जिनमें **कॉल मी मेडम** तथा लोर्का के प्रसिद्ध नाटक **द हाउस ऑफ वरनाडा अल्वा** और **यरमा** आज भी सामयिक और चर्चित नाटक हैं। **द हाउस ऑफ बरनाडा अल्वा और यरमा**, दोनों ही नाटकों में स्त्री पात्रों के कौमार्य को प्रधानता दी गई है। उनकी यौनेच्छाओं को

क्रूरता से निरुत्साहित किया गया है। मातृ-सत्ता की प्रतीक बर्नाडा अपनी युवा पुत्रियों के जीवन को पुरुषविहीन कर जैसे भिक्षुणियों की मठाधीश बन बैठती है। सभी पुत्रियां अपनी दमित इच्छाओं के आवेग से जूझती लड़ती ब्रम्हचारिणी बनी अपने यौवन को क्षरित होता देखती हैं। परम्परावादी समाज में, रूढ़िगत मान्यताओं को अपनाये रखने से क्या दुष्परिणाम हो सकते हैं, इन नाटकों से स्पष्ट है। इन नाटकों में मातृ-सत्ता एक नकारात्मक शक्ति के रूप में प्रकट होती है।

ज्याँ अनाडल का रिंग राउण्ड द मून तथा ज्याँ गिराडाक्स का मेड वूमेन ऑफ शैलोट भी मातृ सत्तात्मक पहलुओं पर लिखे प्रचलित नाटक हैं।

अनुवाद: क्रिस्टोफर डेविड

पटकथा
सिनेमा का विचार पत्र

अंक 1	(शीर्षस्थ फिल्मकार सत्यजीत राय पर एकाग्र)	मूल्य 10 रुपये
अंक 2	(शब्द, बिन्दु, ध्वनि और गति के संबंधों पर एकाग्र)	मूल्य 10 रुपये
अंक 3	(मनुष्यता का संकट और सिनेमा पर एकाग्र- 1)	मूल्य 10 रुपये
अंक 4	(भारतीय सिनेमा के स्वप्नदृष्टा दादा साहब फालके पर एकाग्र)	मूल्य 10 रुपये
अंक 5	(मनुष्यता का संकट और सिनेमा-2)	मूल्य 10 रुपये
अंक 6	(सेर्गेई मिखाईलोविच आइजेंस्ताईन पर एकाग्र)	मूल्य 10 रुपये
अंक 7	(राजनैतिक सिनेमा पर एकाग्र)	मूल्य 20 रुपये
अंक 8	(बहुलोकप्रिय सिनेमा पर एकाग्र)	मूल्य 20 रुपये
अंक 9	(हिन्दुस्तानी सिनेमा की नयी चुनौतियों पर एकाग्र)	मूल्य 20 रुपये
अंक 10	(सत्यजीत राय का अन्वेषण, यर्थाथ का भ्रम, नौशाद आदि)	मूल्य 20 रुपये
अंक 11	(सुप्रसिद्ध अभिनेत्री स्व. नूतन पर एकाग्र)	मूल्य 20 रुपये
अंक 12	(श्याम बेनेगल पर एकाग्र)	मूल्य 20 रुपये
अंक 13	(नवपरम्परावाद पर केन्द्रित)	मूल्य 20 रुपये
अंक 14	(काल-सृजन, फिल्म: वर्णन, वर्णनात्मकता, सीमाएँ मेट्रोपॉलिस)	मूल्य 20 रुपये

फिल्म और फिल्मकारों पर केन्द्रित मोनोग्राफ:

1.	राजकपूर	मूल्य 12 रुपये
2.	बिमल राय	मूल्य 45 रुपये/ सजिल्द 60 रुपये
3.	शतरंज के खिलाड़ी	मूल्य 25 रुपये/सजिल्द 50 रुपये
4.	गुरुदत्त : तीन अंकीय त्रासदी	मूल्य 35 रुपये
5.	श्याम बेनेगल	मूल्य 2 रुपये
6.	अशोक कुमार	मूल्य 25 रुपये/सजिल्द 50 रुपये

भारतीय फिल्म वार्षिकी - 1

मूल्य 40 रुपये/सजिल्द 100 रुपये

(वृहत कोष अद्यतन जानकारी)
आदेश पर पुस्तकें यू.पी.सी. बुक-पोस्ट से।
रजिस्ट्री शुल्क अतिरिक्त

सम्पर्क:
मध्यप्रदेश फिल्म विकास निगम मर्यादित
ई- 1/90, अरेरा कॉलोनी, भोपाल- 16

फिल्म में इतिहास : इतिहास में फिल्म

डॉ. ओ.पी.केजरीवाल

फिल्मों में और फिल्मों के माध्यम से इतिहास का चित्रण करने की संभावना के सम्बन्ध में किसी भी शास्त्रीय इतिहासकार की संभवतः यहाँ प्रतिक्रिया होगी– नहीं, यह असंभव है और हास्यास्पद भी है। फिल्मों ने इतिहास के साथ समझौता करने,उसे खीचने-तानने, उसका दुरुपयोग करने और मिथ्या इतिहास गढ़ने के सिवाय किया ही क्या है ?

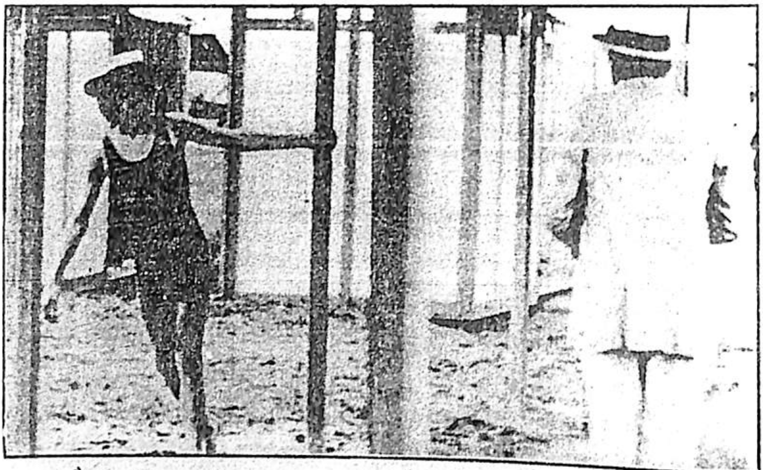
दो माध्यम अर्थात मुद्रित शब्द, जो कि शास्त्रीय इतिहासकार का क्षेत्र है, और श्रव्य-दृश्य ,जो कि फिल्म-निर्माता का क्षेत्र है, दो बिलकुल भिन्न विश्व प्रतीत होते है और ये दोनों आपस में कभी नहीं मिलेंगे या इन दोनों को आपस में कभी नहीं मिलना चाहिए। चलचित्रों और समाज पर दो पुस्तकों के लेखक और दार्शनिक इयान जार्वी यह पूछते प्रतीत होंगे कि वे विश्व आपस में कैसे मिल सकते है ? फिल्म-निर्माता की पहुँच हमेशा रैखिक होती है और एक कथा के इर्दगिर्द बुनी हुई होती है,जिसमें एक आरंभ होता है,एक मध्य होता है और एक अन्त होता है। दूसरी ओर, जैसा कि अब प्रत्येक इतिहासकार जानता है, इतिहास अधिकांशतः इतिहासकारों के बीच के वाद-विवादों से मिलकर बनता है, जो वादविवाद इस प्रश्नों पर होते है कि वास्तव में क्या हुआ था, क्यों हुआ था और उसके महत्व का समुचित वृत्तान्त क्या होगा। उदाहरणार्थ, कोई फिल्म-निर्माता किसी

ऐतिहासिक विवाद विषय को कैसे ले सकता है और कैसे उसका प्रतिवाद कर सकता है, कैसे उसकी आलोच्य टिप्पणी लिख सकता है, और विरोध की आलोचना कैसे कर सकता है ? किसी भारतीय इतिहासकार को संभवतः उस विषयांग पर चर्चा करना भी निंदाजनक जान पड़ेगा। भारत में बनने वाली ऐतिहासिक फिल्मों की जो दशा है उसे देखते हुए उसका ऐसा सोचना उचित भी प्रतीत होगा! भारत में ऐतिहासिक फ़िल्म-निर्माताओं ने,ऐतिहासिक घटनाओं और चरित्रों का उपहास करने के सिवाय किया ही क्या है ? इन फ़िल्म-निर्माताओं के लिए यह दर्शाना असंभव नहीं है कि कलिंग की युद्ध भूमि में सम्राट अशोक महान एक टीले पर बैठे हुएं है और अपने चारों ओर चल रहे भीषण नर संहार को देखते हुए कोई दर्दभरा गीत गा रहे है। एक फिल्म में तो यह दिखाया भी गया हैं कि महाराज पौरस अपने रथ में बैठे हुए कोई देशभक्ति पूर्ण गीत गा रहे है। भारतीय फ़िल्म-निर्माता ने जिस किसी भी ऐतिहासिक घटना को लिया है, उसे विकृत कर दिया हैऔर दर्शाये गये प्रत्येक चरित्र को ऐतिहासिक दृष्टि से क्षत-विक्षत कर दिया है।

फ़िर भी दो विश्वों अर्थात इतिहासकार के विश्व और फ़िल्म-निर्माता के विश्व के बीच एक क्षेत्र ऐसा है, जो कि साझा है, अन्यथा फ़िल्म-निर्माता के मन में अतीत अर्थात इतिहास और पुराण के प्रति जो आकर्षण है उसकी व्याख्या करना कैसे संभव होगा ? संपूर्ण विश्व में फिल्मों में इतिहास इतना प्रवल विषय रहा है कि फिल्मों में इतिहास का विवद्यक उतना ही पुराना है जितना कि पुराना फ़िल्मों का इतिहास है। भारत में फिल्म राजा हरिशचन्द्र से लेकर करोड़ों रुपयों की लागत वाली फ़िल्म (जो कि निर्माणाधीन है) चाणक्य , (जो कि आजकर टी.वी. पर दिखाया जा रहा है) तथा बाइबल (जिसे आकार दिया जा रहा है) जैसी फ़िल्मों में और पश्चिम में आइन्स्टाइन की फिल्मों अक्टोबर और बैटलशिप पोटेंस्किन से लास्ट एम्परर और इनसाइड दि थर्ड राइख जैसी फ़िल्मों में ऐतिहासिक कथा-वस्तुओं,चरित्रों और घटनाओं ने फ़िल्म-निर्माता को हमेशा प्रलोभित किया है। कभी-कभी ऐसा भी होता है,भले ही अब भी बहुत कम होता है, कि कोई व्यावसायिक शास्त्रीय इतिहासकार अपनी विशेषज्ञता और अपनी विगत किसी फ़िल्म-निर्माता को देता है। जबकि इरफान हबीब और आर.एस.शर्मा जैसे इतिहासकारों ने जवाहरलाल नेहरू की रचना डिस्कव्हरी ऑफ इंडिया पर श्याम बेनेगल द्वारा बनाए गए सीरियल में परामर्शदाताओं के रूप में कार्य किया,वही अमरीकी इतिहासकार रॉबट ए.रोजेनस्टोन को यह देखकर अपार संतोष हुआ होगा कि इतिहास पर लिखी गई उनकी दो पुस्तकों- रेड्स और दि गुड फ्लाइट पर अमरीकी फ़िल्म -निर्माताओं में पूरी लंबाई की फिल्म बनाई। जिनमें से रेड्स पर बनी फिल्म 500 लाख डॉलर की लागत से बनी है। अंतरंग अनुभव के बाद रोजेनस्टोन ने कहा , अब मैं ऐतिहासिक फिल्मों की त्रुटियों के लिए या तो हॉलीवुड की बुराइयों को या कम बजटों को या नाटकीय विधा की सीमाओं को या

डॉक्युमेन्टरी फॉर्मेट की सीमाओं को दोषी ठहराना संभव नही पाता। अतीत को पर्दे पर उतारने में इतिहासकार के सामने जो गंभीर समस्याएं आती हैं वे स्वयं चाक्षुप माध्यम की प्रकृति और मांगों से उत्पन्न होती है।

यह कथन महत्वपूर्ण है। सिनेमा ने यह तथ्य बिल्कुल उजागर कर दिया है कि अब अतीत के चित्रण या विश्लेषण में इतिहासकार का एकाधिकार नहीं रह गया है। अब वह अपनी जोखिम पर ही नए माध्यम की उपेक्षा कर सकता है। **रोजेनबर्ग** तो यहाँ तक कहते है कि दृश्य माध्यम की निरंतर बढ़ती हुई शक्ति के बारे में सोचना इस विक्षोभकारी विचार को



जगाना है कि संभवत: इतिहास उसी तरह मृतक है जिस तरह ईश्वर मृतक है; या, अधिक से अधिक, उन लोगों के लिए जीवित है, जो कि विश्वास करते है, अर्थात हममें से उन लोगों के लिए, जो कि उसे एक व्यवसाय के रूप मे अपनाते है। यद्यपि **डेविड हेर्लिही** प्रश्न उठाते है क्या मैं एक कैमेरा हूँ ? और दृढ़तापूर्वक यह कहते है कि फिल्म विचार की आलोचनात्मक रीतियों के एक साधन के रूप में काम नहीं आएगी; वह भलीभाँति यह नहीं दर्शाएगी कि इतिहासकार क्या करते हैं। तथापि इतिहास के अपारंपरिक तथा नवोन्मेषी दार्शनिक हेडन व्हाइट इतिहास के शिल्प को एक बिल्कुल नई किंतु संबद्ध विधा-शाखा में परिवर्तित होता हुआ देखते है, जिसे कि वे **हिस्टोरिओफोटी** कहते है।

इस विवाद विषय का समाहार करते हुए मैं महसूस करता हूँ कि अब (आग्रही संशयवादियों के बावजूद) वह समय आ गया है जबकि इतिहासकार को इस नये और शक्तिशाली माध्यम को स्वीकारना होगा और उसके साथ मेल मिलाप करना होगा। अब इस प्रश्न पर वाद-विवाद करने के बजाय कि फिल्म में इतिहास को चित्रित करने और प्रस्तुत करने की शक्ति है या नहीं ; इस बात पर ध्यान केन्द्रित किया जाना चाहिए कि

फ़िल्म-निर्माण के नाटक में इतिहासकार किस तरह एक अधिक सार्थक भूमिका का निर्वाह कर सकता है और फ़िल्म-निर्माता अपनी कला को और अपने शिल्प को अधिक सार्थक,अधिक शक्तिशाली, अधिक विश्वसनीय बनाने के लिए इतिहासकार की संभाव्यता और उसके शिल्प का उपयोग कैसे कर सकता है ? हमें यहाँ स्मरण रखना होगा कि डेविड हेर्लिही ने भी (जिन्हें ऊपर उद्धृत भी किया गया है) जिन्हें इतिहास की (सिवाय रैखिक और आख्यानात्मक इतिहास की) अर्थच्छटाओं को चित्रित करने की इस माध्यम की शक्ति के बारे में संदेह है(एक अन्य इतिहासकार पूछता है कि क्यों नहीं), ऐतिहासिक विषय-वस्तु वाली फिल्मों के सफल परामर्शदाता के रूप में कार्य किया है।

कुछ स्थानों में इस दिशा में कामयाब शुरुआत हो चुकी है। प्रतिष्ठित जर्नल **अमेरिकन हिस्टॉरिकल रिव्यू** ने 1988 में बिंबों में इतिहास शब्दों में इतिहास : इतिहास को वस्तुतः फ़िल्म में प्रस्तुत करने की संभावना पर अनुचिंतन विषय के लिए एक विचार मंच का निर्माण किया है (जिसमें से ली गई अधिकांश सामग्री का इस लेख के लिए उपयोग किया गया है) और अधिक महत्वपूर्ण बात तो यह है कि **जर्नल ऑफ अमेरिकन हिस्ट्री** ने अपने पृष्ट ऐतिहासिक विषय-वस्तु वाली फ़िल्मों की समीक्षा के लिए दिये। तथापि,भारत में ऐसी अभिज्ञता का निर्माण अभी नहीं हुआ है और इसके लिए बहुत समय लग सकता है। इस संदर्भ में यह सम्मेलन अच्छी शुरुआत है और इसे ऐसे ही अगले अभ्यासों के लिए मार्ग प्रशस्त करना चाहिए।

ऐसा जान पड़ता है कि भारत में अब तक जिस ढंग की ऐतिहासिक फ़िल्में बनाई गयी हैं उनके चलते ऐसा संवाद नहीं हो पा रहा है। उन्हें ऐतिहासिक प्रहसन कहना अधिक उपयुक्त होगा। जो प्रश्न उठता है वह यह है कि फिर फ़िल्म-निर्माता इन वर्षों में ऐसी फ़िल्मों में विशाल धनराशियों का राजी खुशी से निवेश क्यों करता रहा है, जिनमें ऐतिहासिक तथ्य की झीनी सी परत भी नहीं होती ? (कभी-कभी किसी भारतीय ऐतिहासिक फ़िल्म में जो एकमात्र ऐतिहासिकता दिखाई देती है वह है ऐतिहासिक चरित्रों के नाम। उदाहरणार्थ, **रज़िया सुल्तान, मुगले- ए-आजम,** या **चंगेज खान** जैसी फ़िल्मों को लीजिए। सुविख्यात फ़िल्मोग्राफ़र **फिरोज** रंगूनवाला, के अनुसार, मूक फ़िल्मों के आरंभिक वर्षों में, ऐतिहासिक फ़िल्म महलों, जुलूसों, युद्धों आदि के माध्यम से भव्यता के प्रदर्शन की सुविधाजनक युक्ति थी, क्योंकि भाषा कोई रुकावट नहीं थी । यही बोलती फ़िल्मों के दौरान भी ऐतिहासिक फ़िल्मों के निर्माण का प्रधान कारण हो सकता है, क्योंकि यह स्पष्ट है कि फ़िल्मों की किसी भी विधा में इतनी विशाल धनराशि का निवेष नहीं किया जाता रहा है जितना कि ऐतिहासिक फ़िल्मों में। भारत के बारे में यह उतना ही सच है जितना कि अन्य देशों के बारे में। यदि कहीं भी सबसे महँगी फ़िल्मों की सूची बनाई जाये (हालाँकि मै नहीं जानता कि ऐसा कोई प्रयास किया गया है) तो यह युक्तिसंगत निश्चितता के साथ कहा जा सकता है कि अधिकतम फ़िल्में ऐतिहासिक विधा की होंगी। ऐसा क्यों

होना चाहिए ? इसका उत्तर इतिहासकार और फिल्म-निर्माता के शिल्प पर प्रकाश डालेगा और उन क्षेत्रों का संकेत देगा जहाँ दोनो आपस में मिलते प्रतीत होते हैं।

मै कहना चाहूँगा कि इसका उत्तर दो शब्दों **प्रामाणिकता** और **विश्वसनीयता** में निहित है। फिल्म का विषय चाहे जो भी हो फिर भी विश्वसनीयता का तत्व वह है जिसे लेकर फिल्म-निर्माता दर्शकों तक पहुँचना चाहता है। ऐतिहासिक फिल्म इस कसौटी पर सबसे अधिक खरी उतरती है। उसके माध्यम से फिल्म-निर्माता अपने दर्शकों से यह कहता प्रतीत होता है कि, देखिए, यह वास्तव में हुआ था। निश्चय ही, अपने दर्शकों का मनोरंजन करने के लिए वह अन्य तत्वों को बुन देता है। किन्तु इस अनगढ़पन के पीछे, विशेषत: हिन्दी फिल्मों में, विश्वसनीयता का यह तत्व दिखाई देता है, जिसे लेकर फिल्म-निर्माता अपन्झा दर्शकों तक पहुँचना चाहता है। इस प्रकार जब फिरोज रंगूनवाला, सोहराब मोदी की फिल्म **झाँसी की रानी** के बारे में यह कहते है कि वह इसलिए, फ्लाप हुई क्योंकि उसमें **वास्तविक इतिहास** का तत्व था, तो मैं उनके विचार से सहमत होना कठिन पाता हूँ। मेरी असहमति का कारण वास्तविक घटनाओं से उसकी निकटता (जिसके बारे में मुझे संदेह है कि निकटता थी) में नहीं,बल्कि अन्यत्र ढूंढना होगा।

बुनियादी तौर पर इतिहासकार भी यही करने की कोशिश करता है। यह सच है कि इतिहास विषयक प्रत्यय- **जैसा कि वह वस्तुत:या** wie es eigentlich jesweswn - के जनक रैन्के(Ranke) के विचार को अन्य स्कूलों ने अतिष्टित कर दिया है, फिर भी इस तथ्य के बारे में कोई विवाद नहीं हो सकता कि इतिहासकार का आधारभूत कार्य स्वयं को और अपने अध्ययन को **वास्तविक अतीत** के साथ जहाँ तक संभव हो वहाँ तक निकटता के साथ जोड़ना है। इस मुद्दे पर शायद ही कोई विवाद दिखायी देगा; जिस मुद्दे पर बहुत विचार-भिन्नता दिखाई देती है वह मुद्दा यह होगा: **किस प्रकार का अतीत** ? इस शताब्दी के आरंभ से ही,जब अनेल (Annales) स्कूल ने एक नये प्रकार के इतिहास की नींव डाली तब से इस विधा-शाखा (डिसिप्लीन) की सरिताएँ अनेक नयी और अनजानी दिशाओं में बह निकली है। उदाहरणार्थ, **ल्यूसिए फेव्र** (Lucien Febnte) ने मानसिकताओं के इतिहास के बारे में कहा, जिसकी संभावनाओं और संभाव्यताओं का अभी समुचित समन्वेषण किया जाना है। मैं इस पहलू पर **एमेडियस** (Amedeus) जैसी एक फिल्म द्वारा उपस्थित किए गए संबद्ध प्रश्नों के कारण जान बूझकर संकेन्द्रण कर रहा हूँ। **मोजार्ट** (Mozart) और उनके विपक्षी **सेलिएहा** (Saliery) जैसे ऐतिहासिक व्यक्तियों को लेकर इस फिल्म ने प्रतिभा बनाम सामान्यता के शाश्वत विषय पर वस्तुत: एक चलचित्रीय वाद-विवाद चलाया। यद्यपि इस फिल्म में ऐतिहासिक चरित्रों का उपयोग एक ऐतिहासिक परिवेश में किया गया है, तथापि सेलिएरी को मोजार्ट की मृत्यु के लिए उत्तरदायी बनाकर वह ऐतिहासिक तथ्य से विचलन करती है। अब यह प्रश्न उठता है कि क्या प्रतिभा तथा सामान्यता के बीच का यह संघर्ष उतने ही ऐतिहासिक सत्य का विषय

नहीं है जितने ऐतिहासिक सत्य के विषय मोजार्ट और सेलिएरी के चरित्र है। किंतु इस फ़िल्म में ऐतिहासिक सत्यों के एक समुच्चय को चित्रित करने में निश्चय ही अन्य समुच्चयों के प्रति अन्याय किया गया है । एक सौम्य मात्रा में, रूट्स (Roots) तथा होलोकास्ट (Holocaust) जैसी फ़िल्मों में अनेक ऐसे अंश है जिन पर ऐतिहासिक यथार्थता की दृष्टि से आपत्ति उठाई जा सकती है, किन्तु इस बात को नकारा नहीं जा सकता कि उन्होंने महत्वपूर्ण ऐतिहासिक प्रश्न उठाए । फ़िल्म हार्ट्स एण्ड माइन्डस (Hearts and Mends) की शक्ति को कौन नकार सकता है जिसके बारे में यह कहा जाता है कि इस फ़िल्म को देखकर राष्ट्रपति लिन्डन जॉनसन ने वियतनाम में युद्ध जारी रखने के विचार पर फिर से सोचा। इस फ़िल्म के बारे में निर्माता ने कहा कि उनका अभिप्राय इस फ़िल्म को युद्ध के एक वृत्तांत के रूप में प्रस्तुत करना नहीं था,बल्कि उसे ऐतिहासिक संदर्भ-बिंदुओं के साथ मनोवैज्ञानिक जांच के रूप में प्रस्तुत करना था। यद्यपि भारत में ऐसी फ़िल्में अभी तक बनी नहीं है,तथापि वह समय आ गया है कि इतिहासकार आराम से बैठे रहकर अतीत को चित्रित करने की चलचित्रीय भूमिका को चलते रहने नहीं दे सकते ।जब संपूर्ण विश्व में बच्चे और यहाँ तक कि बड़े लोग भी इतिहास के पाठ मुद्रित शब्द के बजाय श्रव्य-दृश्य माध्यमों अर्थात् फ़िल्मों और टेलीविजन से सीख रहे हैं तो उन प्रश्नों का सामना करना आवश्यक है, जो कि इन जैसी फ़िल्मों द्वारा इतिहासकार के सामने प्रस्तुत किये जा रहे हैं। इन प्रश्नों के उत्तर निश्चय ही आसान नहीं है, और संभवतः वे दोनों ही शिल्पों के कर्मियों से समझौतों और समायोजनों के एक सिलसिले की मांग करते है। यदि इन फ़िल्मों को और गांधी तथा माउन्टबेटन जैसी फ़िल्मों को, और यहाँ तक कि चाणक्य जैसे सीरियलों को भी शास्त्रीय इतिहासकार द्वारा प्रश्नांकित किया जाये तो वस्तुतः इस बात की संभावना है. कि प्रश्न लौटकर उसी के सामने आ खड़ा हो ।जैसा कि रोजेनस्टोन ने कहा है, एक ऐसे समय की पूर्वकल्पना करना अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा (क्या हम वहाँ हैं ?) जब लिखित इतिहास एक प्रकार का रहस्यमय कर्म होगा और जब इतिहासकारों को किसी रहस्यमय धर्म के पुरोहितों के रूप में, पवित्र धर्म ग्रंथों के भाष्यकारों के रूप में और एक ऐसी जनता के लिए अनुष्ठान करने वाले लोगों के रूप में देखा जायेगा, जिस जनता को उनके अर्थ में भले ही कोई रुचि न हो फिर भी वह उन्हें उनके अनुष्ठान जारी रखने के लिए दक्षिणा देने में पर्याप्त उदार होगी (आइए हम ऐसी आशा करें)

दूसरी ओर जे.ब्रोनोव्हस्की के एसेन्ट ऑफ मैन, केनेथ क्लार्क के सिविलाइज़ेशन, जॉन के गालब्रेथ के दि एज ऑफ अनसर्टिनेटी जैसे टेलीविजन सीरियलों और वेकेट, लॉरेन्स ऑफ अरेबिया, हार्टस एन्ड माइन्डस, कनफेशन्स ऑफ नैट टर्नर और गांधी जैसी फ़िल्मों की सफलता और लोकप्रियता यह दर्शाती है कि माध्यमों को प्रभावित करने और सुधारने में ऐतिहासिक शोध एक महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह कर सकता है। यदि फ़िल्मों में इतिहास हमेशा फ़िल्म-निर्माण का एक महत्वपूर्ण पहलू रहा है तो वह समय आ गया है



कि इतिहासकार इतिहास में फिल्म की संभाव्यता को समझे और व्यावसायिक इतिहासकार तथा व्यावसायिक फिल्म-निर्माता दोनों ही सहयोग के नित्य व्यापक होते हुए क्षेत्रों पर चर्चा करें,जो कि दोनों के लिए परस्पर लाभकारी होगी।

अनुवादक - मोरेश्वर रामपल्लीवार



प्रामाणिकता और इतिहास की सिनेभाषा

पुरुषोत्तम अग्रवाल

क्या इतिहास की कोई सिनेभाषा हो सकती है? यदि हाँ,तो फिर राजनीति विज्ञान, अर्थशास्त्र या गणित की क्यों नहीं ? सवाल को इस कोण से देखने पर सिनेभाषा की अपनी विशिष्टता और एक माध्यम के रूप में सिनेमा की विलक्षणता रेखांकित होती है । सोच का तरीका बदल जाता है । अपने अस्तित्व से बाहर के किसी अनुशासन (मसलन इतिहास, साहित्य, विज्ञान या अर्थशास्त्र) को व्यक्त करने वाले माध्यम के बजाय स्वयं सिनेमा एक स्वतंत्र कला माध्यम के रूप में सामने आता है । स्वाभाविक रूप से ऐसी स्थिति में विचार का प्रामाणिक विषय, इतिहास की सिनेभाषा के बजाय सिनेभाषा में इतिहास बोध के रूप में देखा जायेगा । सिनेमा जीवन को पुनर्सृजित करता है, किसी भी कला की तरह उस पर टिप्पणी करता है । यह सब उसकी अपनी माध्यमगत विशिष्टता के साथ होता है । दूसरी ओर, इतिहास में मनुष्य की स्थिति और नियति का बोध, उसके संघर्ष और विडम्बना का अहसास एक ऐसा अपरिहार्य तत्व है-जिसकी उपेक्षा कोई भी गंभीर रचना कर नहीं सकती । वह रचना चाहे शब्द भाषा में हो या सिनेभाषा में । यह जरूरी है कि सिनेभाषा की अपनी विशिष्ट सीमाओं और सम्भावनाओं के प्रति संवेदनशील रहते हुए,उसमे निहित अथवा व्यक्त इतिहास बोध की समस्याओं पर विचार

किया जाए। कुछ लोग अब तक यह मानकर सन्तुष्ट हो जाते हैं कि सिनेमा विभिन्न कला रूपों की वर्णसंकर सन्तान है। या कम से कम इतना कि सिनेमा अन्य कला रूपों (चित्रकला, संगीत, नाटक, आख्यान) के संतुलित उपयोग का ही नाम है । फिल्मों की समीक्षा इन धारणाओं को आम तौर से आत्मसात किए रहती है । मसलन; गीत संगीत अच्छा है,फ़ोटोग्राफी नयनाभिराम है,संवाद चुस्त है ? अभिनय मार्मिक है । ये टुकड़े हमें सिनेभाषा के बारे में क्या बताते हैं ? कुछ भी तो नहीं ।माध्यम के तौर पर सिनेमा की अपनी कोई विलक्षणता है या नहीं ? सिनेमा की अपनी भाषा की पहचान क्या है ? गंभीर फ़िल्म चिन्तन के सामने यह सवाल शुरू से ही रहा है ।

इस सदी के आरंभ में,जबकि फ़िल्म को अंततः फ़ोटोग्राफी की कला का विस्तार ही माना जा सकता था (जमाना मूक फ़िल्मों का था),यह स्वाभविक ही था कि फ़िल्म भाषा की खोज फ़िल्म के संपादन में की जाए । पुदोवकिन के शब्दों में, संपादन ही फ़िल्म निर्देशक की भाषा है,जैसे बोली जाने वाली भाषा की बुनियादी इकाई शब्द है, वैसे ही फ़िल्मभाषा की बुनियादी इकाई है एक शॉट, इन्हीं बुनियादी इकाइयों का समायोजन संपादन में किया जाता है। (पुदोवकिन, फ़िल्म टेक्नीक एण्ड फ़िल्म एक्टिंग, लंदन पृष्ठ 100) सिनेभाषा की बुनियादी इकाई की इसी समझ से सोवियत निर्देशकों, सिद्धांतकारों ने मोंताज सिद्धांत का विकास किया। आइज़ेंस्ताइन और स्वयं पुदोवकिन की स्मरणीय कृतियों के बावजूद, बतौर सिद्धांत के मोंताज की सीमाएँ जल्दी ही कष्टदायी ढंग से स्पष्ट होने लगीं ।

संपादन के जरिए विभिन्न शॉट्स को उनकी स्वाभाविक पृष्ठभूमि से काटकर एक विशिष्ट अर्थ की सिद्धि के लिए संयोजित करने से न केवल शॉट इकाई की अपनी अर्थवत्ता कम हो जाती है, बल्कि संपादन के बाद हासिल रचना में बहुलार्थकता कम से कम सर्जनात्मक अनुशासनों में तो अपरिहार्य है, इसलिए इसका निषेध करने वाली एप्रोच खासी दिक्कत पैदा करती है ।

यहीं यह याद करना प्रासंगिक होगा कि सिनेभाषा, एक अपनी समग्रता के कारण वैसे ही बहुलार्थकता की सम्भावना को घटाती है। किसी उपन्यास या कहानी में किसी पात्र या घटना का शब्दगत वर्णन पाठक की कल्पना के लिए कितनी गुंजाइश छोड़ता है, उतनी गुंजाइश उस पात्र या घटना के दृश्यगत प्रस्तुतिकरण में संभव नहीं है । सिनेभाषा की इस स्वभावगत विशेषता के प्रति संवेदनशील फ़िल्मकार सजग रहते हैं और इस सजगता से एक बहुस्तरीय तनाव पैदा होता है । यह तनाव है- एक मशीनी और सामूहिक रूप से रची वस्तु को सर्जनात्मक वक्तव्य, अनुभव और बोध में बदलने का । जहाँ शब्द भाषा की विशेषता यह है कि यह एक ही साथ तथ्यकथन, चिन्तन और सृजन का माध्यम है, वहीं सिनेभाषा मूलतः बिम्बपरक है । शब्द भाषा अमूर्तन से मूर्त प्रत्यक्षीकरण संभव करने का प्रयत्न करती है । (शब्द हाथ से नहीं पकड़े जा सकते और संकेतिक वस्तु से अलग उनकी

सत्ता है) इस मूर्त प्रत्यक्षीकरण से भाषा पुनः अमूर्त भावोत्तेजना या विचारोत्तेजना की ओर आती है । शब्द भाषा के बरक्स सिनेभाषा की बुनियादी इकाई चूंकि मूर्त बिम्ब है, इसलिए अमूर्त विचारोत्तेजना के क्षेत्र में एक सीमा के बाद इसे कठिनाई होने लगती है । इसी कठिनाई को वी.एफ.परकिन्स ने यों महसूस किया है,आख्यान के अन्य रूपों से फिल्मों का अनोखापन इस बात में नहीं है कि वे अनुभव के विविध पहलुओं को हमारे बोध को गहराने के कोण से अलगाती और ढालती है । उनका अनोखापन इस बात में है कि वे बोध को गहराने का यह काम प्राथमिक रूप से गतिशीलता और प्रत्यक्ष रूप के धरातल पर करती है, न कि विचार या विवाद के धरातल पर (फिल्म एज फिल्म, लंदन 1980. पृ. 69) ।

कहने की आवश्यकता नहीं कि अमूर्त विचार की बजाय गति और प्रत्यक्ष रूपायन के धरातल पर प्राथमिक रूप से सक्रिय भाषा में इतिहास लिखा नहीं जा सकता । हाँ, इस भाषा में ऐतिहासिक सरोकारों, चिन्ताओं और आग्रहों से जूझते हुए देश-काल के विभिन्न आयामों की व्याख्या जरूर की जा सकती है। अन्य कलाएँ भी अपने-अपने मुहावरे में ऐसी व्याख्याएँ करती है । इसलिए सवाल सिनेभाषा के अपने मुहावरे के प्रति सजगता का है । यह मुहावरा कलारूपों के संयोजन या शॉट्स के संपादन के जरिए अर्थान्वयन तक सीमित नहीं है। ध्वनि, संवाद, प्रकाश और छाया के तनाव से सिनेभाषा के अपने मुहावरे का कुछ अनुमान होता है । यह तनाव विशेष दृश्यों से लेकर समग्र संरचना तक



में व्याप्त होकर अर्थ सम्भव करता है । इस मायने में सिनेभाषा की व्याप्ति दृश्य से तो अधिक है ही, बल्कि संवाद और संगीत से भी आगे है । खास तरह की आवाज़ भी फिल्म में गहरे अर्थबोध को सम्भव कर सकती है । केवल आख्यान के घटनाक्रम को सूचित करने से कहीं अधिक, विशिष्ट मनोदशा रचने तक के अर्थ में । मेघे ढाका तारा में नायिका के भयावह यातनादायी क्षणों को ऋत्विक घटक सिर्फ़ दर्दनाक संगीत से नहीं बल्कि साउंड ट्रेक पर चाबुक से आघात की आवाजें दर्ज करके संप्रेषित करते हैं ।

सिनेभाषा एक ओर तो स्वभाव से ही दर्शक की कल्पना के लिए बंधनकारी और मूर्त्त प्रत्यक्षीकरण की ओर झुकने वाली भाषा है, दूसरी ओर अपने व्याकरण के व्यापक आधार के कारण इसमें अनुभव की पुनर्रचना और पुर्नव्याख्या की सर्वथा अप्रत्याशित सम्भावनाएँ मौजूद है । इतिहास बोध के संदर्भ में सिनेभाषा की सम्भावनाओं को कहाँ तक और कितने प्रासंगिक रूप में पहुँचाया जा सका है ?

इस सवाल पर गौर करने के लिए इतिहास प्रचलित धारणाओं में निहित सरलीकरण से बचना जरुरी है । एक स्वतंत्र अनुशासन के रूप में इतिहास अतीत का आख्यान अवश्य है, लेकिन बोध के स्तर पर इतिहासबोध की व्याप्ति सिर्फ़ उस तक नहीं है, जो बीत गया वल्कि अतीत का ऐतिहासिक आख्यान के रूप में गठन स्वयं आख्यानकर्त्ता के समकालीन दबावों और आग्रहों से पूरी तरह स्वायत्त कभी नहीं होता । अनुशासन के रूप में इतिहास लेखन जिन तथ्यों को आधार बनाता है, वे भी पूर्णतः वस्तुनिष्ठ नहीं होते । बल्कि तथ्यों का चुनाव और उन पर बलाघात, उन्हें एक सार्थक आख्यान के ढाँचे में रखना यह सब इतिहासकार के मन में जाने अनजाने मौजूद एक तरह की उपकल्पना के ढाँचे या स्वयं अपनी विशिष्ट स्थिति के बोध से अनुशासित होता है ।

कहने का आशय यह कि पूरी तरह से वस्तुनिष्ठ और पूरी तरह से अतीत तक सीमित इतिहास एक असम्भावना है । जिस तरह यथार्थ-बोध का अर्थ यथार्थ के किसी टुकड़े को भाषा में दोहरा देना नहीं है, उसी तरह इतिहास बोध का अर्थ किसी काल खण्ड को पाठक या दर्शक के सामने परोस देना नहीं हो सकता । कला के संदर्भ में तो यह एकदम केन्द्रीय मुद्दा है कि कला यथार्थ और इतिहास के प्रति कितना जटिल, बहुलार्थक और बहुस्तरीय बोध संभव कर सकती है । इस मायने में कला का एक खास काम है और वह यह कि कला ज्ञान के विविध अनुशासनों के आत्मसंतुष्ट अस्तित्वबोध को बार-बार झकझोरती है । कह सकते है कि कला इतिहास, दर्शन, राजनीति सभी घरों में अनाधिकृत, घुसपैठ कर उन्हें परेशान करती है । इन अनुशासनों की आत्मसीमित व सुपरिभाषित दुनिया में मुकम्मल और इसीलिए अपरिभाषेय मनुष्य के हस्तक्षेप को संभव करती है । इस हस्तक्षेप के जरिए कला विभिन्न अनुशासनों के प्रदत्त बोध और संरचना को झकझोरती है, मौजूद सवालों का प्रस्ताव करती है । यही कारण है कि सर्वसत्तावादी राज्यवैद्यों की पहली कृपादृष्टि कला पर ही होती है, और यही कारण है कि सजग कला अपने अस्तित्व को जिज्ञासा से

परिभाषित करती है । सिर्फ़ अपने रूप और संरचना के प्रति सीमित जिज्ञासा नहीं बल्कि मनुष्य की नियति के प्रति जिज्ञासा ।

स्वयं सिनेमा और इतिहास के विशेष संदर्भ में सिद्धान्त और रचना दोनों ही धरातलों पर प्रश्न पूछने, चरित्रों को नए सिरे से परिभाषित करने की कोशिश ही महत्वपूर्ण है । मृणाल सेन के शब्दों में, इतिहास को फिर से परिभाषित करना, जो कुछ हुआ है उसे फिर से समझना आधुनिक मनुष्य की बड़ी फौरी जरूरत है । हमें बेहतर भविष्य की रचना के कोण से अतीत की पड़ताल करनी है, इस पड़ताल और वर्तमान को जीवन्त बनाने के लिए अतीत के बारे में बार-बार सवाल करना जरूरी है । **(न्यूज़ ऑन सिनेमा, कलकत्ता 1977 पृ. 36)** । जब ये सवाल सिनेमा के अपने मुहावरे में किए जाते है तो कुछ विशिष्ट स्थितियाँ उत्पन्न होती है । एक तो यह कि इतिहास के कालखण्ड विशेष की कलात्मक पुनर्रचना में डिटेल्स का खासा महत्व होता है । आमतौर से यह प्रामाणिकता का सवाल भी मान लिया जाता है । दूसरी बात यह है कि बहुत स्पष्ट रूप से तथाकथित **ऐतिहासिक** थीम से असंबद्ध फिल्म के संदर्भ में भी इतिहास बोध का सवाल अप्रासंगिक नहीं है । मसलन कोस्ता गवारस की तीनों चर्चित फ़िल्मों-ज़ी, मिसिंग और हाना के. में से कोई भी शब्द के उस अर्थ में ऐतिहासिक फिल्म नहीं है, जिसमें कि **शतरंज के खिलाड़ी** । लेकिन इन फिल्मों में समकालीन इतिहास के दबावों के प्रति एक विशेष क्रम की मौजूदगी को कौन नकार सकता है ? इसके अलावा, यह सवाल तो है ही कि इतिहास का आशय सिर्फ घटनाओं के वर्णन तक सीमित है, या उसमें एक कालखण्ड विशेष के परिवेश की अपनी खास चुनौतियों के प्रति संवेदनशीलता भी शामिल है ? आमतौर से प्रयुक्त शब्द ऐतिहासिक का आशय घटनाओं के वर्णन, वह भी तथाकथित प्रामाणिक वर्णन से लिया जाता है, लेकिन इस आशय में न केवल सिनेमा की भाषा के प्रति बल्कि कलामात्र के प्रति गहरी असंवेदनशीलता, बल्कि अवज्ञा तक निहित है । यह अवज्ञा ठीक उसी प्रकार की है, जैसी कि **यथार्थवाद** को एक रूपपरक **डिवाइस** बना डालने वाले लोग विभिन्न कला प्रयत्नों के प्रति दिखाते रहे है । इस बात को तीन उदाहरणों के सहारे स्पष्ट किया जा सकता है । रिचर्ड एटनबरो की फिल्म **गाँधी** में एक दृश्य है । जिस व्यक्ति को आगे चलकर गाँधीजी की हत्या करनी है, वह एक कार में बैठे काली दाढ़ी वाले व्यक्ति से मौन सहमति प्राप्त कर रहा है । इस दृश्य की **ऐतिहासिक यथार्थता** को लेकर खासा शोरगुल हुआ था । कह रहा था कि बताया जाए कि इस दृश्य में दिखाई गयी घटना ठीक इस रूप में कब और कहाँ हुई ? जबकि मुद्दा यह है ही नहीं । इसे यों देखें । गाँधीजी की हत्या किसी पागल हत्यारे के मनोविकार या पेशेवर अपराधियों के षडयंत्र का परिणाम नहीं थी । यह एक राजनीतिक विचार विशेष की डरावनी लेकिन स्वाभाविक परिणति थी ।



यह एक ऐतिहासिक वक्तव्य है। इससे आप सहमत या असहमत हो सकते हैं । लेकिन यदि फ़िल्मकार इस वक्तव्य से सहमत है तो (?) उसके सामने दो विकल्प हैं; या तो वह इस वक्तव्य को कमेंट्री या संवाद के जरिए, अथवा स्वयं इस वक्तव्य के विस्तृत नाटकीयकरण के जरिए संप्रेष्य बनाए और या फिर सिनेभाषा के अपने मुहावरे का विशिष्ट उपयोग करे । एटनबरो ने यही किया है । कई महीनों तक भूले घटनाक्रम को उन्होंने चंद मिनटों व एक जगह में सिकोड़ दिया है । देश और काल को यों कंडेंस करने वाला यह दृश्य अपने आप में प्रामाणिक हो या न हो, एक विशिष्ट ऐतिहासिक वक्तव्य को अत्यंत सहज ढंग से संप्रेषणीय जरूर बनाता है । सही तौर से बहस इस पर तो हो सकती है कि इस दृश्य मे संकलित वक्तव्य स्वीकार्य है या अस्वीकार्य, लेकिन स्वयं इस दृश्य की तथाकथित प्रामाणिकता पर बहस का कोई अर्थ नहीं है ।

इस तरह की सतही प्रामाणिकता को सिनेमा सिर्फ देशकाल को सिकोड़कर अप्रासंगिक बनाता हो, ऐसा नहीं है। यह काम फैंटेसीपरक रचना के जरिए कहीं अधिक व्यापक रूप से किया जाता है। **हेंगेज अबुलनाद्ज़े** की चर्चित फिल्म **रिपेंटेंस** इसी का उदाहरण है, लेकिन इसकी चर्चा हम एक अन्य प्रसंग में करेंगे। फिलहाल **द ग्रेट डिक्टेटर** को याद करें। यह फ़िल्म कतई **ऐतिहासिक**नहीं थी,क्योंकि यह तो हिटलर के सितारों की बुलन्दी के दिनों में बनायी गयी फ़िल्म थी । एक तरह का समानान्तर यथार्थ रचकर चार्ली चेपलिन तानाशाह हेंवाल और उसके हमशक्ल यहूदी नाई का किस्सा परदे पर दिखा रहे है । सारी विनोदकृति, सिचुएशन कॉमेडी, विडम्बना और तरह-तरह की घटनाओं के बाद जिस जिजीविषा को एक बहुलार्थकता के स्पर्श के साथ हमारे सामने लाया जाता है, (क्योंकि पता नहीं हान्ना ने होठों में क्या बुदबुदाया) वही जिजीविषा, वही इतिहास बोध उन सारी फ़िल्मों से गायब है,जो पाँचवे -छटे दशकों में **वार फिल्म्स** के नाम से यूरोप पर छायीं रहीं। इस जिजीविषा के बिना **द ग्रेट डिक्टेटर** सिर्फ एक **व्यंग्य** होती, प्रतिवाद नहीं, लेकिन वह है ।

ऐसा नही है कि **डिटेल्स** की प्रामाणिकता और उनके जरिए अन्वेषित परिवेश की अपनी चुनौतियों के प्रति संवेदनशीलता में कोई अनिवार्य विरोधाभास है । बल्कि फिल्म के अपने मुहावरे में डिटेल्स के ही साथ विवादपरक वक्तव्यों को भी गूँथा जा सकता है । **सत्यजीत राय** की **शतरंज के खिलाड़ी** यह काम दोहरे स्तर पर करती है । एक सुप्रसिद्ध साहित्यिक रचना को प्रस्थान बिन्दु बना कर **सत्यजीत राय** केवल माहौल को अधिक भरा-पूरा बनाने के लिए **डिटेल्स** का उपयोग नहीं करते, बल्कि वे एक समानान्तर कहानी रच देते हैं । वाजिद अली शाह और आउड्रम के बीच चल रही कशमकश की कहानी। इस सन्दर्भ में भी दिलचस्प बात यह है कि ज्यादातर बहस (कम से कम साहित्यिक हलकों में) इस बात पर होती रही कि प्रेमचंद की कहानी को इस तरह मनमाने ढंग से बदल देने का राय को क्या अधिकार था ? अधिकार था या नहीं यह मुद्दा फिलहाल गैर बहस

नहीं है । देखने की बात यह है कि राय शतरंज के खिलाड़ी में एक ज्यादा गौरतलब प्रतिवाद कर रहे हैं । प्रेमचंद की कहानी के मीर और मिर्जा विलासी भले ही रहे हों, लेकिन उनमें व्यक्तिगत वीरता का अभाव नहीं था । स्वाभाविक है कि कहानी के मीर और मिर्जा बाकायदा चुनौती देकर तलवारों से द्वंद्व युद्ध करते है, जबकि फिल्म के मीर और मिर्जा का हथियार तलवार नहीं, तमाचा है, जो कि क्षणिक आवेश में गैर इरादतन चल जाता है। फिल्म में निहित इस ह्रास बोध की टिप्पणी सिर्फ इन दो पात्रों के व्यक्तिगत गुणों के पुनर्मूल्यांकन तक सीमित नहीं है । वाजिद अली शाह की वह शानदार आत्मदशा जिसकी परिणति बिना लड़े हार जाने में ही होनी है, उसका विस्तृत रेखांकन भी उन्नीसवीं सदी के सांमत वर्ग के प्रति राय का विशेष दृष्टिकोण सूचित करता है । इस दृष्टिकोण में व्यक्ति की मानवीय उपस्थिति के प्रति पूरी सहानुभूति के बावजूद उनके वर्ग से जोड़े जाने वाले गुणों (व्यक्तिगत वीरता) के भावुक महिमामण्डन की कोई गुंजाइश नहीं है । उल्टे इस वर्ग की ऐतिहासिक भूमिका का गहरा बोध फिल्म के अंतिम दृश्य से व्यक्त होता है, जहाँ वह अकेला छूट गया देहाती बच्चा फटी-फटी आँखों से अंग्रेजी फौज को आते और वापस जाते देखता है, और बेचैनी से कहता है, **कोई लड़ता ही नहीं सरकार** । जहाँ तक सरकारों अर्थात मीर और मिर्जा का सवाल है, वे अब अंग्रेजी चाल की बाजी सजा रहे हैं, और मीर का वाक्य नैरेटर की आवाज में घुलमिल जाता है। **अब आप हटिए बादशाह सलामत मलिका ए आलिया तशरीफ ला रही हैं** । खेल वही है, खिलाड़ी वही है, सिर्फ खेल के कायदे थोड़े से बदल गये है ।बादशाह सलामत की जगह मलिका ने ले ली है। फिल्म **शतरंज के खिलाड़ी** इस तरह भारतीय सामंत वर्ग की ऐतिहासिक भूमिका और उसके नैतिवा में अपरिभाषेय मनुष्य का हस्तक्षेप ।

और यह फिल्म की सीमा नहीं सम्भावना है ।

ऐतिहासिक चरित्रों पर बनी फिल्में

श्रीराम ताम्रकर

इतिहास महज अतीत की कहानी नहीं है। इतिहास अतीत का आईना है, जिसमें दिखाई देने वाली परछाइयाँ वर्तमान समाज को सोचने-समझने का अवसर देती हैं साथ ही इस बात के लिए प्रेरित करती हैं कि अतीत की ओर देखते हुए भविष्य का निर्माण किया जाए। इतिहास की स्मृतियाँ एक व्यक्ति के लिए भले ही महत्वपूर्ण नहीं हों, लेकिन एक राष्ट्र के लिए वे महत्वपूर्ण हैं। इतिहास एक राष्ट्र को उसकी सतत जीवंतता का अहसास कराता है। उसकी परम्पराओं से परिचित कराता है। इतिहास जब अपने सुनहरे या अधखुले पन्नों से बाहर निकल कर रजतपट पर आकार लेता है, तो और भी महत्वपूर्ण हो जाता है। भारतीय इतिहास अनेक महापुरुषों तथा महान नारी गाथाओं के अद्भुत शौर्य, कार्य और सेवाओं के सुनहरे पन्नों से भरा पड़ा है, जो भारतीय फिल्मकारों के लिए सदैव आकर्षण का केन्द्र रहे हैं। भारत में पहली कथा फिल्म 1913 में दादा साहेब फालके ने राजा हरिशचन्द्र बनाई थी। भारत की चौथी कथा फिल्म 1915 में बनी जिसका आधार ऐतिहासिक था। एस.एन. पाटनकर द्वारा निर्देशित **डेथ ऑव नारायणराव पेशवा** में पेशवा की हत्या दिखाई गई थी, जिसने मराठा साम्राज्य की नींव हिला दी थी। इसके छः सात साल बाद तक किसी फिल्मकार ने ऐतिहासिक फ़िल्म बनाने का साहस नहीं किया। अंग्रेजी शासन की टेढ़ी नजर इस माध्यम पर बराबर लगी हुई थी क्योंकि ऐतिहासिक चरित्रों के फिल्मांकन से स्वाधीनता संग्राम को बल मिल सकता था।

दूसरी ऐतिहासिक फिल्म 1923 में दादा साहेब फालके ने बनाई, जो बुद्ध के जीवन को प्रतिबिम्बित करती थी। कलकत्ता के मदन थियेटर ने पेशंस कूपर को लेकर नूरजहाँ का निर्माण किया। लेकिन बाबूराव पेंटर ने 1923 में ही सिंहगढ़ फिल्म बना कर ऐतिहासिक फिल्मों को गहराई से रेखांकित किया। महाराष्ट्र फिल्म कम्पनी के बैनर में बनी इस फिल्म में शिवाजी के सेनापति तानाजी द्वारा सिंहगढ़ के किले को मुक्त कराने की साहस गाथा थी। गढ़ आला पण सिंह गेला जैसी मार्मिक भावना के उद्गार शिवाजी के मुख से सुनकर दर्शक द्रवित हो गए थे। बम्बई में यह फिल्म लम्बे अरसे तक चली। इस फिल्म में वी. शांताराम ने शेलारमामा की महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। यहाँ इस बात का उल्लेख करना आवश्यक है कि भारतीय फिल्मकारों के लिए शिवाजी का चरित्र सदैव आकर्षण का केन्द्र रहा और उनके जीवन पर लगातार फ़िल्में बनती रही हैं, जिनमें **बाजी प्रभु देशपाण्डे, नेताजी पालकर, फ्रॉम द कस्टडी ऑव औरंगजेब,** और **छत्रपति सम्भाजी** उल्लेखनीय हैं। मूक युग में निर्मित **नेताजी पालकर** (1927) के माध्यम से शांताराम का



निर्देशक रूप सामने आता है। अहिल्याबाई के जीवन पर फ़िल्म बनाने की घोषणा पिछले दस सालों में जितनी बार हुई वह अपने आप में कीर्तिमान हैं। लेकिन इन्दौर की इस शासिका के जीवन पर 1925 में एक फिल्म बन चुकी है।

राजस्थान के रणबाँकुरों की शौर्यगाथाओं पर फ़िल्मकारों ने अच्छा खासा अभ्यास किया है। 1925 में अमरसिंह डागर के जीवन पर पहला प्रयास किया गया। बाद में **हमीर, अमरसिंह राठौर, पृथ्वीराज चौहान, महाराणा प्रताप, दानवीर भामशा, रानी पद्मिनी,**

चित्तौड़ **विजय** जैसी फिल्मों के जरिए राजपूताने के इतिहास पर रोशनी डाली गई। गूंगी फिल्मों से बोलती फिल्मों के युग में आने से पहले 1926 में हिमांशु राय द्वारा जर्मन सहयोग से बनी फिल्म **लाइट ऑव एशिया** का उल्लेख आवश्यक है। इसका निर्देशन फ्रेंज आस्टेन ने किया था। इस फिल्म में हिमांशु राय स्वयं बुद्ध बने थे। आज भी यह फिल्म क्लासिक की श्रेणी में मानी जाती है। इसी वर्ष में मुमताज महल के जीवन पर एक फिल्म आई, जिसने शाहजहाँ को ताजमहल बनाने की प्रेरणा दी थी। मूक-युग का बम्बइया सिनेमा मूलतः महाराष्ट्रीय लोगों के हाथ में था, इसलिए मराठा इतिहास और चरित्रों को कागज के पन्नों से समेटकर सेल्युलाइड पर अंकित किया गया। दुःखद स्थिति यह है कि ये तमाम फिल्में नष्ट हो चुकी हैं। 1930 में निर्मित **उदयकाल** फिल्म के कुछ स्थिर छाया चित्र स्मृति के लिए शेष हैं। शिवाजी की युवावस्था की भूमिका इस फिल्म में शांताराम ने की थी। फिल्म का पूर्वनाम **स्वराज्य तोरण** था, लेकिन ब्रिटिश सेंसर ने **स्वराज्य** शब्द पर आपत्ति करते हुए नाम बदलवा दिया।

भारत में मुगल साम्राज्य के लम्बे इतिहास के कई चरित्र फिल्मों की फ्रेम में उतर कर रजतपट पर आए हैं। लेकिन इनमें से अधिकांश चरित्र प्यार-मोहब्बत-शक के तराने आलापते मिलते हैं। भव्य सेट्स, आलीशान दरबार, सुरा और सुन्दरियों की रंगरेलियों के साथ गीत-संगीत और मुजरों की महफिल इन फिल्मों की बनावट और बुनावट रही है। नतीजे में मूल कथानक और चरित्रों ने अपना असली चेहरा खो दिया है। ऐसे चरित्रों में सबसे अधिक बार **अनारकली** परदे पर आई। सुलोचना और डी. बिलिमोरिया पहली बार अनारकली-सलीम के रूप में दर्शकों से रूबरू हुए थे। इन दो प्रेमियों को जुदा करते हुए सम्राट अकबर को एक खलनायक के रूप में चित्रित किया गया। केवल **के. आसिफ** ने अपनी भव्य फिल्म **मुगले आजम** (1960) का अंत बदल कर अकबर को एक उदार दिल बादशाह बतलाता था वरना तमाम फिल्मकारों की नज़र में अकबर जैसा बादशाह एक अदद खलनायक की ऊँचाई से ऊपर नहीं उठ पाया। दिल्ली की एक कम्पनी के अलावा फिल्मिस्तान की अनारकली ने अपनी सफलता के परचम फहराए थे। प्रदीप कुमार-बीनाराय की जोड़ी गीत-संगीत की गंगा में नहाकर गोल्डन जुबली की दहलीज तक गई थी। **मुगले आजम** में दिलीप कुमार, मधुबाला और पृथ्वीराज- दुर्गाखोटे ने अपने शानदार अभिनय से फिल्म को और शानदार बनाया था। चालीस के दशक में अनेक मुगल बादशाहों पर फिल्में बनीं जैसे- **बाबर, हुमायूँ, शाहजहाँ, अकबर**। फिल्मकार मेहबूब की फिल्म **हुमायूँ** अशोक कुमार, नरगिस, चन्द्रमोहन और बीना की उपस्थिति के बावजूद टिकिट खिड़की पर फ्लॉप रही क्योंकि दर्शकों ने अशोक कुमार को हुमायूँ मानने से इन्कार कर दिया।

पहली बोलती ऐतिहासिक फिल्म 1931 में इम्पीरियल कम्पनी ने बनाई। नूरजहाँ और जहाँगीर के रोमांस का फिल्मांकन इजरा मीर ने किया था। यह हिन्दी-अंग्रेजी में साथ-साथ



बजी थी। गूंगे युग की तमाम ऐतिहासिक फ़िल्में बोलते युग में दोबारा बनाने की कोशिशें भी की गई। शांताराम ने सिंहगढ़ को मराठी में बनाया। हिन्दू राजाओं पर फ़िल्में बनाने का सिलसिला आरम्भ से रहा है। ए.आर. कारदार ने **चन्द्रगुप्त** फ़िल्म का निर्देशन 1934 में किया जिसमें गुल हमीद और सविता देवी की जोड़ी थी। चाणक्य की भूमिका नज़ीर ने की थी।

ऐतिहासिक फ़िल्मों में सर्वाधिक योगदान सोहराब मोदी का रहा है। पारसी थिएटर से सिनेमा में आए तथा शेक्सपीयर को आदर्श मानने वाले मोदी की पहली फ़िल्म खून-का खून हेमलेट पर आधारित थी। उनकी **पुकार** फ़िल्म ने भारत में ऐतिहासिक फ़िल्मों की कायापलट दी। जहाँगीर के न्याय पर आधारित इस फ़िल्मों में संग्रामसिंह की भूमिका स्वयं सोहराब मोदी ने की थी। जहाँगीर बने थे चन्द्र मोहन। नसीम सचमुच में नूरजहाँ नजर आती थी। ऐतिहासिक देशकाल, वेशभूषा, सेटिंग और भव्यता के साथ चरित्रों को विश्वसनीयता के साथ पेश किया गया था। इस फ़िल्म ने सफलता के झण्डे गाढ़े। इसी श्रृंख्ला की अगली कड़ी में है फ़िल्म **सिकन्दर**। सोहराब मोदी ने पौरस और पृथ्वीराज कपूर ने सिकन्दर के अभिनय में ऐसे प्राण फूंक दिए थे कि दोनों परदे पर साक्षात नजर आते थे। गुजरात के पुराने माहौल को मोदी ने **पृथ्वीवल्लभ** फ़िल्म में पुनर्जीवित किया था। हालांकि इस फ़िल्म की कथा ऐतिहासिक कम और **फिक्शन** अधिक थी। एक दिन का सुल्तान के बाद सोहराब मोदी ने अपनी सम्पूर्ण शक्ति और कल्पनाशीलता का उपयोग करते हुए भारत की पहली टेक्नीकलर फ़िल्म **झाँसी की रानी** बनाई। उन्होंने ने केवल टेक्नीकलर कैमरे का पहली बार आयात किया बल्कि हॉलीवुड से कैमरामेन भी बुलाए। झाँसी की रानी बुरी तरह असफल रही। चेम्बूर में झाँसी का किला बनाया गया था और रानी बनी थीं **मेहताब**। दर्शकों ने उन्हें झाँसी की रानी के रूप में स्वीकार नहीं किया। स्वयं मोदी ने अपने रोल को इतना महत्वपूर्ण बना लिया था कि रानी का चरित्र दब गया। इसके बाद सोहराब मोदी युग का भी एक प्रकार से अन्त हो गया।

प्रभात की फ़िल्म **रामशास्त्री** ऐतिहासिक फ़िल्मों की धरोहर में एक नायाब तोहफे के समान है। आठवीं शताब्दी के पुणे के गौरव को यह फ़िल्म वास्तविकताओं के साथ पेश करती है। पेशवा के न्यायाधीश रामशास्त्री ने निर्भीक होते हुए पेशवा के चाचा को मृत्युदण्ड की सजा सुनाई थी। ए.आर. कारदार की फ़िल्म **शाहजहाँ** भी कुन्दनलाल सहगल के अभिनय तथा गीतों के कारण याद की जाती हैं।

स्वतंत्र भारत के फ़िल्मकारों ने इतिहास और अतीत में नहीं के बराबर दिलचस्पी दिखलाई हैं। स्वाधीनता सेनानी चन्द्रशेखर आजाद, शहीद भगतसिंह, वासुदेव बलवंत के अलावा अदले **जहाँगीर, नूरजहाँ, ताजमहल,** मुगले आजम जैसी फ़िल्में इतिहास और उनके चरित्रों के साथ न्याय नहीं करती हैं। फ़ीचर फ़िल्मों के बजाए तिलक, गाँधी, सुभाषचंद्र बोस, नेहरू, और दूसरे नेताओं के जीवन पर वृत्त चित्र जरूर उम्दा बने हैं। इन्दौर की जयू और पुणे



के नचिकेत पटवर्धन ने **22 जून 1897** फिल्म के माध्यम से चाफेकर बंधुओं की कथा कहते हुए इतिहास से दर्शकों का साक्षात्कार एक दशक पहले कराया था। इस प्रशंसनीय प्रयास के बाद राष्ट्रीय फिल्म विकास निगम ने ब्रिटिश फिल्मकार सर रिचर्ड एटनबरो के सहयोग से गाँधी फिल्म बनाकर ताजे इतिहास को जीवंत करते हुए दुनिया को महात्मा गाँधी के जीवन तथा दर्शन से परिचित कराया था। फिल्म गाँधी भी उसी तरह की दुर्लभ फिल्म हैं जिस प्रकार सदियों में एकाध गाँधी पैदा होता है।

कमाल अमरोही की **रजिया सुल्तान,** श्याम बेंनेगल की जुनून, सत्यजीत राय की शतरंज के खिलाड़ी इतिहास के एक किनारे को छूकर गुजरने वाली फिल्में हैं। इन्हें ऐतिहासिक चरित्रों पर आधारित फिल्म में नहीं कहा जा सकता।

बड़े परदे पर ऐतिहासिक चरित्रों को देखने की अब इच्छा करना दिवा-स्वप्न की तरह है। किसी भी फिल्मकार में न पहले जैसा धैर्य है और न फिल्म माध्यम के प्रति वैसी प्रतिबद्धता। भला हो गोविंद निहलानी जैसे निर्देशक का जिन्होंने **तमस** का तोहफा देकर विभाजन की त्रासदी तथा आहत मानवता से हमारा साक्षात्कार कराया। इसी कड़ी में **भारत एक खोज** के लिए श्याम बेनेगल का आभार माना जाना जरूरी है,जिन्होंने हमारी सभ्यता के बिम्ब प्रस्तुत किए। अन्यथा **बहादुरशाह जफर** भी आए और चले गए। **टीपू सुल्तान** को भी सबने देखा। **चाणक्य** भी चल रहे हैं, चलते रहेंगे। सावधानी यही होनी चाहिए कि परदा भले ही बौना (छोटा) हो गया हो, ऐतिहासिक महापुरुषों को कृपया बौना न बनाएँ।

तमस

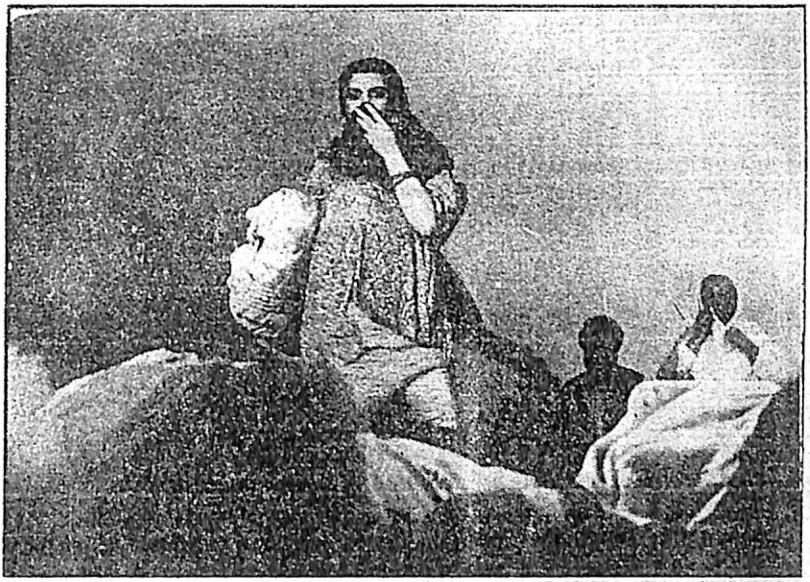
कथाकार की कृति का चाक्षुष रूप

यशवन्त व्यास

गोविन्द निहलानी की **तमस** , भीष्म साहनी की **तमस** का चाक्षुष रूप है। और जैसा कि खुद भीष्म साहनी ने कहा है, वे निहलानी की **तमस** से संतुष्ट है। निर्देशन, फिल्मांकन, सम्पादन और अभिनय सभी दृष्टि से उत्तम मानते हुए भीष्म साहनी उपन्यास की मूलभावना को बनाए रखने के लिए निहलानी की सिनेदृष्टि की तारीफ कर चुके हैं। (सारिका : भीष्म साहनी हीरक जयंती अंक)।

लेकिन, इतने भी से किसी रचना का पूरा मूल्यांकन नहीं हो जाता, क्योंकि बहुत संभव है कि मूलकृति से अलग भी सिनेकृति, अपने कुल प्रभाव में विशिष्ट बन गई हो। यह एक महत्वपूर्ण तथ्य है कि मूल साहित्यिक कृति और उस पर आधारित फिल्म कृति एक दूसरे के सामने रखकर जाँचे जाते हैं, जबकि दूसरी ओर अकेली फिल्म-कृति स्वतंत्र तौर पर भी अपनी अलग हैसियत रखती है।

तमस की पृष्ठभूमि में उसके चाक्षुष और शाब्दिक प्रभावों का अपना-अपना महत्व है। एक यथार्थ को संवेदनशीलता के साथ प्रस्तुत करने का जो काम है, उसमें कैमरे की सफलता और किताब की सफलता क्रमशः दर्शक और पाठक की मनःस्थिति पर अलग-अलग ढंग से प्रकट होती है। शब्द मनो-विस्तार की गुंजाइश के साथ होते है जबकि दृश्य अपने घटित होने के भीतर ही दर्शक को दायराबन्द करने की स्थिति में आते हैं। यह और भी विशेष तब हो जाता है, जबकि घर के भीतर कुछ ही फुट दूर, एक बक्से के रौशन चेहरे के जरिए उसका लोकव्यापीकरण होता हो।



तमस एक उपन्यास के रूप में भीष्म साहनी की एक चर्चित कृति है गो कि **नामवर सिंह** समेत कई विद्वान इस कामयाब कृति को **यशपाल** के **झूठा सच** वगैरह के सामने कम गहरा पाते हैं। उनकी दृष्टि में घटनाओं के अंकन में जिस वस्तुपरक तथा पैनी व्याख्यात्मक दृष्टि का इस्तेमाल होना चाहिए था, वह **तमस** में नहीं है। यद्यपि विवरणों को सिलसिलेवार रखने की सादगी के बावजूद उपन्यास का कुल असर पाठक को बाँधता है। एक यथार्थ का संवेदनशीलता से अंकन करती कृति **तमस** का विभाजन के काफी अर्से बाद लिखा जाना, कथित कट्टरपंथियों को उतना क्यों नहीं उद्वेलित करता दिखा, जितना दूरदर्शन पर सन् 88 में दिखाए जाने के समय दिखा था। इसके मोटे कारण तो वही हैं जो एक किताब के, शाब्दिक स्वरूप के ग्रहण किए जाने और एक सिने-निर्देशक के जरिए रेखांकित और एक हद तक दायराबंद स्वरूप को ग्रहण किए जाने में, आये अंतर से समझे जा सकते हैं।

लेकिन, फिल्म **तमस** को लेकर कुछ खास आपत्तियाँ भी सामने है। जहाँ तक मूलकृति में सिने रूपान्तरण के दौरान किए गए परिवर्तन का प्रश्न है, अंत में दो उपकथाएँ मिलायी गई हैं। निहलानी के मुताबिक, वे कथाएँ, फिल्म के उद्देश्य को पूरी तरह स्थापित करने के लिए ली गई हैं। इसे हम कलात्मक जरूरतों के आधार पर ले सकते हैं।

इस बात पर विचार करते हुए हम तमस समर्थकों की टीम से तो रूबरू है ही, लेकिन के. एफ. रुस्तमजी की एक टिप्पणी के कुछ आशय - अंश भी गौरतलब हैं जो उन्होंने कलकत्ता से प्रकाशित एक दैनिक के 15 फरवरी 88 के अंक में लिखी थी। उन्होंने फिल्म के तकनीकी और निर्माण पक्ष की सराहना की है। बावजूद इसके, उन्हें लगता है कि कहीं कुछ

छूट गया है। वे कहते है कि क्या सिर्फ सूअर काटने से दंगे हुए? दंगे ऐसे नहीं होते। पहले से ये ताकतें अपना काम एक नेटवर्क के जरिए जारी रखती है - छोटी-छोटी बातों का प्रचार अन्दर ही अन्दर होता रहता है। दंगे शुरू करने में संगठन कभी सीधे भाग नहीं लेते। वे प्रक्रिया को बनाने में मदद करते हैं। कोई भी अनुभवी पुलिस अफसर मुहल्ले का चेहरा देखकर बता सकता है कि वहाँ क्या घटने वाला है। जबकि **तमस** में दंगे के पीछे व्याप्त कारणों का पूर्ण स्वरूप नहीं उभरता। उफान का सही जायजा नहीं मिलता।

दूसरे, रुस्तमजी की मान्यता है कि हिन्दू लड़के द्वारा मुर्गी काटने और उसे हत्या प्रेरणा देने के प्रसंग गलत जगह हैं। पाकिस्तान के क्षेत्रों में ऐसा नहीं हुआ। सीमा के उस पार तो मुस्लिम असामाजिक तत्वों ने कमान संभाल रखी थी। सीमा के इस पार, उसका उल्टा हुआ। लेकिन इन तर्कों में एक रचना - **तमस** के कमजोर होने का प्रमाण उतना नहीं है, जितना उद्देश्य विचार के समय केन्द्रीय भाव के संदर्भ में होना चाहिए। ये तर्क रचना पर कम, उस समय की स्थितियों पर ज्यादा केन्द्रित हैं।

ये कुछ बातें है, जिन्होंने **तमस** को चर्चित भी बनाया और विवादस्पद भी। यह कोर्ट में गई और बाहर आई। इसने विरोध भी पाया और समर्थक भी तैयार किए। **तमस** के इस समूचे प्रकरण में, इतिहास को फिल्मांकित करने या यथार्थ को कलात्मक ढाँचे में पेश करने की सीमाएँ तथा खूबियाँ उजागर हुई है। दूरदर्शन के काल्पनिक औपन्यासिक **टीपू सुल्तान** और सांस्कृतिक धारावाहिक **रामायण** और **महाभारत** के मद्देनजर **तमस** की सच्चाई का असर भी हमने पाया है। **तमस** न सिर्फ इतिहास की एक कलात्मक प्रस्तुति थी, अपितु हमारे सामाजिक अंतर्विरोधों और मौसम की जाँच भी साबित हुई।

हो सकता है कि कुछ लोगों के लिए **तमस** साढ़े तीन लाख दर्शकों द्वारा देखा गया, सिर्फ 26 लाख रुपए विज्ञापन की आय देने वाला एक धारावाहिक भी रहा हो। लेकिन, वस्तुतः तमाम सवालों के बावजूद यह संवेदनशीलता के साथ निकट अतीत के यथार्थ को वर्तमान के संदर्भों से जोड़ने की कोशिश साबित हुई। मैं अपनी एक बात को सुधीश पचौरी के शब्दों में कहूँ - कि, **तमस** साम्प्रदायिकता की उपदेशात्मक या किताबी व्याख्यान होकर रूपात्मक रचना और व्याख्या दोनों थी। वह एक यथार्थ रचती थी और वही संदेश बन जाता था।

छोटे परदे पर इतिहास

सन्दीप श्रोत्रिय

एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि क्या किसी फिल्मकार को इतिहास के लिखित या अलिखित अतीत को जस का तस परदे पर भी घटित होते दिखाया जाना चाहिए? यहाँ हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि अब वह समय बीत चुका है जब इतिहास को मूलतः तथ्यों के संग्रह और सूचना के भंडार के रूप में ही देखा जाता था। बिना किसी सिद्धान्त और दृष्टिकोण वे कोई इतिहास हो ही नहीं सकता। इसलिए यह भी समझ लिया जाना चाहिए कि समय और समाज की कसौटी पर कसे बिना जो कुछ घटा है उसे जस का तस अनगढ़ और ज्यों का त्यों मास के सामने नहीं रखा जा सकता।

हमें यह तो देखना ही होगा कि आज हम किस काल खण्ड के कौन से हिस्से में खड़े हैं और इतिहास का कौन सा सच हमारे समय और समाज के लिए आवश्यक है। किस सच का जिक्र किया जाना चाहिए और किस सच से बचा जाना चाहिए। अगर यह सच है कि कला के व्याकरण के संदर्भ में इतिहास की प्रमाणिकता देखी जानी चाहिए तो यह भी सही है कि परदे पर इस सच को रचते समय फिल्मकार को अपना पक्ष तय करना ही होगा। इस महत्वपूर्ण दायित्व से वह बच ही नहीं सकता क्योंकि कला से जुड़े किसी भी व्यक्ति का सबसे अहम सरोकार उसका सामाजिक सरोकार ही है।

जब इतिहास को फ़िल्माया जा रहा होता है तब फ़िल्मकार के कंधों पर दोहरी जिम्मेदारी होती है। एक ज़िम्मेदारी समाज के प्रति होती है वो दूसरी इतिहास के प्रति। इनमें से किसी को भी नजरअन्दाज नहीं किया जा सकता। हर स्तर पर यह आवश्यक है कि वह अपने सामाजिक दायित्व को पहचाने वहीं दूसरी ओर इतिहास के उस सच को भी परदे तक पहुँचाए जो पंक्तियों के बीच कही छिपी रह गयी है बशर्ते बड़ी जरूरत यह है कि फ़िल्मकार की निगाह समकालीन सामाजिक संकटों पर हो।

अक्सर यह बात भुला दी जाती है कि ऐतिहासिक व्याख्या समसामयिक विचारधारा की उपज हो सकती है। दरअसल पिछले अर्से में छोटे परदे पर इतिहास का जो प्रस्फुटन हुआ है उससे इतिहास के पुनर्लेखन उसके फ़िल्मांकन और पुनर्व्याख्या के खतरे कई गुना बढ़ गये हैं।

सच तो यह है कि जिस तरह हमारे समाज में दूरदर्शन की पैठ गहरी हुई है उससे दूरदर्शन के नीति निर्धारकों और अफ़सरशाहों के कंधों पर भी भारी उत्तरदायित्व आ जाता है। किन्तु अगर दूरदर्शन की इतिहास के लिए कोई प्रतिबद्धता होती तो संजय खान को इतिहास के साथ **टीपू सुल्तान की तलवार** जैसा भद्दा मजाक करने की अनुमति नहीं दी जाती। इतिहास के साथ इससे ज्यादा लापरवाह रवैया और क्या हो सकता है कि संजय खान को अपनी श्रृंखला के पहले यह पट्टी दिखाने की इजाज़त तक दे दी गई कि उनकी श्रृंखला इतिहापरक होने का कोई दावा नहीं करती। जो लोग वर्तमान तक के प्रति ईमानदार नहीं हैं उनसे इतिहास के प्रति ईमानदार होने की भोली उम्मीद नहीं की जानी चाहिए।

अभी हाल ही में एम.एस. सथ्यू ने दूरदर्शन के अधिकारियों के विरुद्ध एक मुक़दमा जीता जिसे उनके **कयर** धारावाहिक के कुछ दृश्यों को बिना सोचे-समझे काटने के लिए दायर किया गया था। केरल की संस्कृति और इतिहास पर सथ्यू जितनी - गंभीरता से फ़िल्मांकन करते हैं दूरदर्शन की दृष्टि उतनी ही लापरवाह है।

दूरदर्शन ने कुछ अच्छी श्रृंखलाओं का भी प्रसारण किया है। जिनमें इतिहास की काफ़ी प्रमाणिक और प्रभावशाली झलक मिलती है। श्याम बेनेगल की श्रृंखला **भारत एक खोज** इसी क्रम में आने वाली महत्वपूर्ण कृति है । सिनेमा और नाटक के तत्वों का अद्भुत सम्मिश्रण यह डॉक्यूड्रामा था। साथ ही इसकी प्रमाणिकता पर भी भरपूर काम किया गया था। इतने पर भी अगर कुछ उंगलियाँ इस श्रृंखला पर उठीं तो इसलिए कि इतिहास का वह सच जो परदे तक फ़िल्म तकनीक के ज़रिए पहुँचता है वह अन्तिम सच नहीं होता। **मिर्ज़ा गालिब** और **कबीर** का जिक्र इसलिए किया जाना आवश्यक है क्योंकि इन श्रंखलाओं ने बताया कि इतिहास सिर्फ आक्रमणकारी शासकों और बादशाहों का ही नहीं होता बल्कि उसमें साहित्य और संस्कृति की जगह भी होती है। इन दोनों श्रंखलाओं को तकनीकी दृष्टि से भी महत्वपूर्ण माना जाना चाहिए हालाँकि गुलजार ने मिर्ज़ा गालिब



के संगीत के साथ आधुनिक आर्केस्ट्रा के प्रयोग की जगजीत सिंह को छूट दे कर अनावश्यक समझौता ही किया।

हाल ही में वृन्दावनलाल वर्मा के ऐतिहसिक उपन्यास पर आधारित मृगनयनी का प्रसारण किया गया। इस श्रृंखला में न तो कलाकार अपने समय से मेल खाते हुए दिखाई दे रहे थे,न उनकी वेशभूषा। **पल्लवी जोशी** किसी भी कोण से वृन्दावल लाल वर्मा की मृगनयनी नहीं दिखाई देती थी। गीत संगीत की हालत यह थी कि राजस्थान के लोकगीत और लोक धुनें माण्डू और ग्वालियर में सुनाईं गईं। निर्देशक **अमोल पालेकर** ने इस इलाके की मिट्टी के सुर-संगीत का प्रयोग करने की ओर कोई ध्यान नहीं दिया।

इन दिनों हम **चाणक्य** देख रहे हैं जिसमें तत्कालीन माहौल जो जीवंत करने के साथ-साथ फिल्म तकनीक का अच्छा इस्तेमाल किया गया है। लेकिन इस श्रृंखला के इतिहास बोध पर प्रश्न चिन्ह लगाए जा रहे हैं। इन प्रश्नों में कितनी सच्चाई है यह तो विवाद का विषय है लेकिन हमें यह याद रखना चाहिए कि ऐतिहासिक व्याख्या समसामायिक विचारधारा की उपज हो सकती है। घटनाओं को चुनने का आधार पहले इतिहासकार की और फिर फिल्मकार की पसन्द होती है और उनकी कृति में उन दोनों का किसी एक की आत्मनिष्ठा देखी जा सकती है।

इतिहासकार की ही तरह फिल्मकार भी अपने स्रोतों को जिस तरह प्राथमिकता देता है और इन स्रोतों के प्रति वह जिस हद तक आलोचनात्मक और विश्लेषणात्मक रुख अपनाने को तैयार होता है उससे उसकी व्याख्या भी प्रभावित होती है। छोटे परदे पर हुए इतिहास के प्रस्फुटन के संदर्भ में यही कहा जा सकता है कि अधिकांश फिल्मकारों ने इतिहास को विषय बनाते समय पर्याप्त गम्भीरता से कार्य नहीं किया नतीजन अधकचरी कृतियाँ सामने आईं और उनका प्रभाव भी सही दिशा में न पड़ कर कई बार विपरीत दिशा में दिखाई दिया।

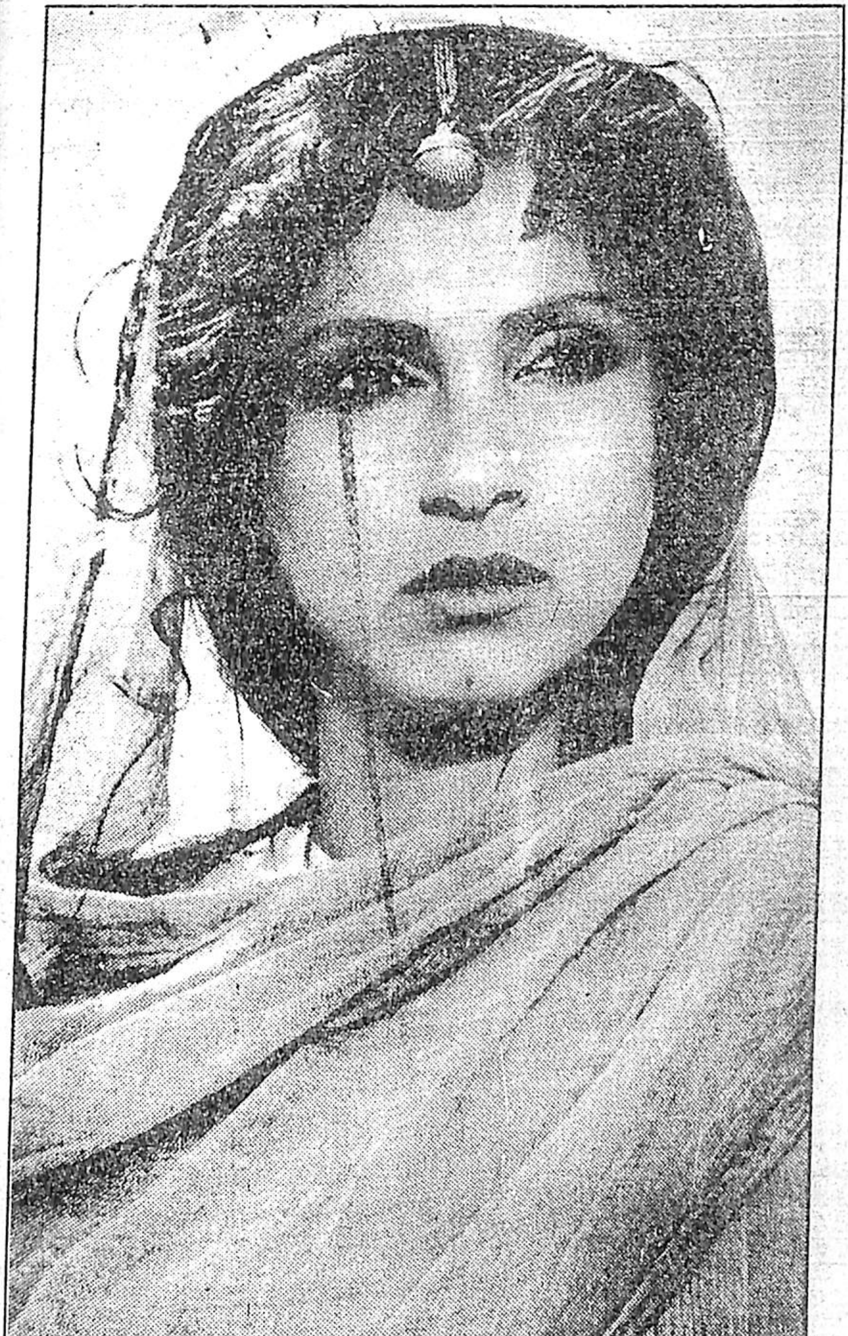
देखते हुए :

प्रभुनाथ सिंह आजमी

लेकिन

आत्मा के अस्तित्व को लेकर लगातार बहस चलती रहती है। पक्ष-विपक्ष की दलीलों में यह विषय लगातार उलझा रहा है पर आज तक वैज्ञानिक रूप से यह स्थापित नहीं हो पाया है कि वास्तव में आत्मा -अमरत्व - शरीर में कैसा सम्बन्ध है,यदि है तो गुलजार की फिल्म लेकिन में इस विषय को छुआ गया है पर जरा करीने से । हिन्दी फिल्मों में घुसती व्यावसायिकता तथा धर्मपरायण दर्शक वर्ग के कारण कई प्रकार के अविश्वसनीय तथा चमत्कृत कर देने वाले प्रसंगों को लेकर शुरू से ही फिल्में बनती आई हैं और गाहे-बगाहे दर्शकों ने उसे सरमाथे उठाया भी है। जय संतोषी माँ से लेकर टी.वी. पर प्रसारित होने वाले धारावाहिकों तक कई मुकाम हैं, जहाँ धर्मप्रियता तथा तर्कहीनता ने एक साथ दर्शकों को भरमाया है।

लेकिन में यह भ्रम तर्कपूर्ण ढंग से दर्शन की तरह स्थापित किया गया है। यदि हम यह साबित नहीं कर पाते कि, 'पृथ्वी का केन्द्र हमारे पांव से नीचे नहीं है तो यह साबित मानिए कि वह हमारे पांव के नीचे ही है,' की तर्ज पर आत्मा का अस्तित्व नहीं है: साबित नहीं हुआ है इसलिए आत्मा के अस्तित्व को मानिए। गुलजार ने इस कल्पित तथा अविश्वनसनीय प्रसंग को तर्कपूर्ण बनाने के लिए तथा पृष्ठभूमि को विषय के अनुरूप गढ़ने के लिए पुरातत्व विभाग का नायक तथा राजस्थान के किलों की वास्तविक लोकेशन चुनी है और इस जगह वे सचमुच सफल हैं कि फिल्म देखते हुए आप इस वैज्ञानिक तर्कप्रियता से लगभग मुक्त रहते हैं।



आत्मा-परमात्मा तथा शरीर के बीच इतनी मान्यताएँ अवधारणाएँ तथा कथाएं हैं कि किसी पर विश्वास करना संभव ही नहीं है;आप केवल स्वीकार कर सकते हैं अथवा जन्म से वे विश्वास आप में रूढ़ हो सकते हैं। अपनी ही फिल्म **मीरा** में गुलजार ने यह प्रयोग किया था । अन्तिम दृश्यों में मीरा मन्दिर में प्रवेश करती है। दरवाजा बंद होता है, और जब पुनः दरवाजा खुलता है तो भीतर कोई नहीं होता, केवल कुछ फूल होते हैं । यहाँ बहुत कलात्मक ढंग से गुलजार ने अपने आप को मीरा के मनुष्यत्व अथवा देवत्व से अलग कर लिया है। किन्तु **लेकिन** में उनकी यह निरपेक्षता कलात्मक कम चालाकी ज्यादा नजर आती है। खासकर उस समय जब गुलजार की **मेरे अपने, अचानक, आंधी,** तथा **कोशिश** जैसी फिल्में आप की यादों में हो।

यदि **लेकिन** को फिल्म के भीतर से देखा जाये तो निश्चित ही कहना पड़ेगा कि भूत-प्रेत की फिल्मों से जो काम रवि नगाइच, या रामसे बन्धु लेना जानते-चाहते हैं वह गुलजार का उद्देश्य नहीं है। इसलिए अपने अविश्वसनीय कथा को प्रिय तथा विश्वसनीय ढंग से रखने के लिए गुलजार अवश्य तारीफ जुटा लेते है। भूत-प्रेत के रूप में भटकती फिल्मी आत्माएँ डर पैदा करने के लिए उपयोग में लायी जाती हैं लेकिन गुलजार की प्रेतात्मा न डर पैदा करती है,न रोंगटे खड़े करती है,बल्कि प्यारी लगती है तथा अपनी कथा से अपने लिए सहानुभूति भी अर्जित करती है। जैसा कि गुलजार की फिल्मों का स्थायी भाव रहा है कि उनके पात्र सम्पूर्ण अच्छे अथवा सम्पूर्ण बुरे नहीं होते, बल्कि सामान्य मानवीय अच्छाइयों व बुराइयों से परिपूर्ण होते है; उसी प्रकार भटकती अन्तर आत्मा के रूप में प्रस्तुत चरित्र भी अच्छाइयों-बुराईयों का सामान्य चरित्र है जिसे पर्दे पर साकार करने में डिम्पल कपाड़िया ने कोई कसर नहीं छोड़ी है। उस चरित्र के साथ सरोकार रखने में विनोद खन्ना की भूमिका बहुत सामान्य है तथा कई बार वे अटपटे भी लगते है। अमजद खान तथा बीना ने विनोद खन्ना के हमदर्द दोस्त दम्पति की भूमिका बहुत सहज होकर निबाही है तथा वह कथा की एकरसता से मुक्ति भी प्रदान करती है। गीत-संगीत फिल्म के वर्तमान स्वरूप को तो बाधित करता है किन्तु फ्लैश-बैक या कि अतीत अथवा **पूर्वजन्म** वाले प्रसंगों में बहुत प्रभावशाली है। दृश्य मिश्रण इस फिल्म का सबसे सशक्त पक्ष है। खासकर उन दृश्यों में जहाँ डिम्पल रोटी पकाती है तथा तहखानों में कैदी व उनकी कोठरियाँ है, तथा वह महफिलें जहाँ नृत्यगीत हुआ करता था । रेगिस्तान वाले दृश्यों में फोटोग्राफी प्रभावशाली है। प्रकाश व्यवस्था भी अलग से उद्धत करने लायक पक्ष है। जब नायक ट्रेन में सफर कर रहा होता है तथा चलती ट्रेन के दरवाजे के बाहर डिम्पल कपाड़िया लटकी दिखाई देती है तो वह स्वयं प्रकाश व्यवस्था के कारण ही पूरे अलौकिक चरित्र की तरह प्रस्तुत होती है। फिल्म की पटकथा तथा संवाद गुलजार के लिए सामान्य से ही है किन्तु सम्पादन अवश्य प्रभार को गतिशील बनाता है ।

इस प्रकार **लेकिन** सम्पूर्ण रूप से फिल्म के रूप में अच्छी है,किन्तु कथ्य की अर्थहीनता के

कारण अच्छी फिल्म के रूप में स्वीकृत नही हो सकती । चूँकि लेकिन आत्मा के अस्तित्व को लेकर की गय़ी कोई अनुसन्धानात्मक कोशिश नहीं अतः इस विषय पर उसका निर्माण केवल आनंद अथवा मनोरंजन तक ही सीमित है जहाँ वह भरपूर रसबोध से दूर है । लेकिन में एक विचार उठाया गया है आमरत्व तथा आत्मा का जिसकी स्वीकृति असमर्थ है इसलिए लेकिन केवल ख़ूबसूरत खाली डिब्बा है जिसमें कुछ नहीं है।

राजस्थान के किलों की भव्यता तथा उसके पीछे छुपे मानवीय दर्प की क्रुरताएँ तथा सामान्यजन की विवशतायें जरूर कथा की दृष्टि से म चपूर्ण तथा चुनौतीपूर्ण लगते हैं। लेकिन का यह भी एक अभिप्राय निकाला जा सकता है लेकिन यह केवल समीक्षा का नजरिया है । पूरी फिल्म से यह पक्ष कथ्य की तरह नहीं उभरता बल्कि समीक्षा के लिए ढूंढ कर स्थापित करना पड़ता है अतः यह स्वयं में कम महत्व का है। फ़िर भी यदि यह उद्देश्य है, तो भी आत्मा की अतृप्ति में इतने महत्वपूर्ण विषय को भटकाना उचित नहीं ।

प्रहार

वर्तमान सिनेमा के परिदृश्य में प्रहार की चर्चा एक भिन्न फ़िल्म के रूप में करने के कई कारण है। सबसे महत्वपूर्ण तथा विशिष्ट कारण तो यह है कि अपने विषय तथा उसके निर्वाह के बीच किसी प्रकार की तथा कथित शास्त्रीयता नहीं अपनायी गय़ी है और न ही जारी भेड़चाल की फ़ार्मूलेबाजी दिखायी गयी है । फिर भी फ़िल्म शास्त्रीय लगती है तथा व्यासायिक रूप से सफ़ल भी है । एक फ़िल्म के आधार पर कोई अवधारणा स्थापित करना उतावलापन होगा, तो भी इतना तो कहा ही जा सकता है; कि यदि आप अपने विचारों में स्पष्ट हैं, बिम्बों का प्रयोग जानते हैं, माध्यम की समझ है तो अति शास्त्रीयता अथवा अतिशय व्यावसायिकता के चरम बिन्दुओं में फंसे बगैर एक अच्छी सफ़ल फ़िल्म बना सकते हैं ।



समीक्षा की दृष्टि से प्रहार में अतुलनीय अथवा अत्यन्त महत्व के साथ रेखांकित करने लायक चमकदार बिन्दु नहीं है । इसे खुद प्रहार की अच्छाई के रूप में ग्रहण किया जाना चाहिए । क्योंकि दो-चार चमकदार बिन्दुओं को भर कर शोहरत पा लेने वाली फिल्में अपने सम्पूर्ण अवदान में कई बार शून्य साबित होती है जो दर्शक के साथ एक तरह का छल होता है ।

प्रहार का सबसे महत्वपूर्ण पक्ष उसका विचार है । दर्शन के माध्यम से अत्याचार-अनाचार के विरुद्ध खड़ा होने का तरीका जरा सोच कर, सँभल कर और योजनापूर्ण ढंग से है । वर्तमान बेहद तेज, खूँखार तथा मारक है। संवेदनाहीन और कई बार तो बेमकसद (लगभग सैडिस्ट अंदाज में) एक निरीह व्यक्ति को पीड़ा पहुँचाने का चलन चल पड़ा है। ये हमले अत्यन्त अचानक तथा तीव्र होते है जिससे सँभलने का अवसर तक नहीं मिलता। ऐसे में सोच-विचार के बाद किया गया प्रतिकार अव्वल तो प्रतिकार होता नहीं और यदि होता भी है तो बेहद अप्रभावी तथा भोथरा, जो हिंसा के विरुद्ध कोई प्रभाव नहीं उत्पन्न कर पाता, बल्कि उसे और हिंसक बनाता है । उकसाता है । सोचने-समझने में व्यय हुआ समय हिंसक को अपने अत्याचार के एवज में मजा लेने का मौका देता है । परिणामतः वह और अनाचार में व्यस्त हो जाता है । यदि बाद में उसे प्रतिकार स्वरूप खत्म भी कर दिया जाये तो भी अपने जीवन काल में भोगा गया उसका आनंद एक पीढ़ी को ऐसे ही कर्म की ओर प्रेरित करता है । क्योंकि आकलन के मानदण्ड बदल रहे हैं। बदनामियाँ, आज बेमानी लगती है। सबको पता है कि स्टेज पर खड़ा होकर अच्छाइयों पर भाषण दे रहा व्यक्ति अव्वल दर्जे का मक्कार है तथा बुराइयों की खान है तो भी वे उसे हार पहनायेंगे उसके भाषण पर तालियाँ बजायेंगे। यानी दो मुँहापन केवल भाषण दे रहे व्यक्ति में नहीं है बल्कि उसके सामने बैठी बेशुमार लोगों की भीड़ भी दो मुँही ही है, अंतर केवल दो मुँहपन के पीछे छिपी भावना का है। एक की भावना उत्पीड़न है दूसरे की विवशता

ऐसे में लम्बे समय तक लिया गया मजा थोड़ी देर के लिए भोगी सजा से अच्छा लगता है।

अतः लम्बित प्रतिकार, प्रतिकार की मूल भावना के ही विरुद्ध है। ठीक उसी तरह जैसे देर से दिया गया न्याय, अन्याय है । लंबित प्रतिकार, अन्याय सहना है। प्रहार लंबित प्रतिकार के विरुद्ध एक सशक्त वक्तव्य है । इन दिनों हिंसा प्रधान फिल्मों (घायल, फूल और कांटे, इत्यादि) में लंबित -प्रतिकार को अस्वीकार ही किया जा रहा है, लेकिन वे फिल्में इसलिए कमजोर हैं, क्योंकि लंबित प्रतिकार के विरुद्ध खड़े नायक जन्मजात शक्ति सम्पन्न नजर आते हैं और उत्पीड़न के विरुद्ध खड़े होने से पूर्व ही विजयी दिखने लगते हैं और उत्पीड़कों को स्थापित करने के पहले उनके कारनामों को निरीह लोगों पर दिखाया जाता है ताकि उनके आतंक के प्रभाव में दर्शक को लिया जाये। फिर नायक उसका प्रतिकार करता है जो वास्तव में दर्शक के आतंक बोध को कम करना है । इस प्रकार ये फिल्में **फैंटेसी** रचती हैं और इनका प्रभाव यथार्थ में खेल-खिलवाड़ का आनंद देता है। किसी विचार की प्रस्तुति तथा प्रभाव से ये कोई ताल मेल नहीं बिठा पातीं जब कि प्रतिकार निलम्बन के विरूद्ध **प्रहार** एक सम्पूर्ण विचार है।

प्रहार का नायक हमलों के विरुद्ध प्रशिक्षित है । **हमलों** के मनोविज्ञान से परिचित है । अतः उसके व्यवहार में महानायकत्व नहीं है और न महामानवता । वह हममें से ही कोई पर हमसे अलग विचार वाला व्यक्ति लगता है। इतना लगते ही प्रहार अन्य हिंसा प्रधान फिल्मों से अलग नजर आने लगती है। चरित्र की विश्वसनीयता कर्म के यथार्थ से बड़ी होती है। **प्रहार** चरित्र की विश्वसनीयता स्थापित करती है ।फिर भी यथार्थ कहीं घायल नहीं होता ।

प्रहार का पूर्वाद्ध लगभग कथाहीन तथा वृत्तात्मक है किन्तु कथा फिल्म के मंद तन्तुओं के सहारे पटकथा ने प्रशंसनीय गति प्रस्तुत की है । **कमांडो-फोर्स** के प्रशिक्षण हेतु आये युवकों को दिए जाने वाले प्रशिक्षण के दृश्य खासे लंबे हैं, किन्तु चरित्र की विश्वसनीयता विभिन्न कोणों से उसे दिलचस्प बनाये रखा है । अभिनय पक्ष में **नाना पाटेकर** के साथ-साथ सैनानी का प्रशिक्षण प्राप्त कर रहे युवकों ने उसी स्तर का अभिनय प्रस्तुत किया है जो फिल्म के दृश्य अनुभव को भाग्य अनुभव में परिवर्तित कर दें। इसके साथ-साथ निर्देशकीय कौशल का भी महत्व कम नही है क्योकि यहाँ भी **नाना पाटेकर** ने विशेष दृश्यों की आसन्दी पर सामान्य दृश्यों का निषेध नहीं रखा बल्कि, फिल्म के हर फ्रेम में स्थायी सतर्कता बरती है, जैसे ऊँचे से पानी में कूदने वाले दृश्यों को उसके असली खतरे को स्थापित करने के बाद ही, स्वयं नायक मेजर चौहान ने उसके आंतक को अपने माध्यम से कम किया है। स्वयं ऊँचाई से कूदते मेजर चौहान अतिमानव नहीं लगते बल्कि अच्छी तरह प्रशिक्षित तथा अभ्यस्त दिखते है। खतरनाक स्थितियों से जूझते तथा उनसे उबरते अन्य फिल्मों के नायक खतरों को कम करते तथा आतंक को बढ़ाते नजर आते है

जबकि प्रहार खतरों को उनके सही आकार में प्रस्तुत करती है तथा उसके आतंक को खत्म करते हुए एक तरह का आह्वान करती है कि आसन्न खतरे के विरुद्ध उत्पन्न डर, खतरों को अभिवर्द्धित ही करता है । उसका सामना करने का साहस उस खतरे का, उसी की औकात में देखने की सही तरकीब है। यह काम चुटकियों में नहीं होता । इसलिए प्रशिक्षण के दौरान बुने गए दृश्यों मे प्रशिक्षणार्थियों के चेहरों पर एक दूसरे के प्रतिबिम्ब डर की सामूहिकता स्थापित करते हैं जो फिलहाल हमारा सामाजिक चरित्र बन गया है । दो-चार जालिमों के सामने पूरी बस्ती नपुंसक नजर आने लगती है । मेजर चौहान इस डर को एक झटके में नहीं निकालते। क्योंकि एक झटके में निकला डर मन में अपनी खाली जगह का शून्य छोड़ जाता है जो अन्य तरह की बुराईयों से ही भर जाता है। जैसे भीड़ का स्वयं आतताई हो जाना अथवा एक डर के विरुद्ध डर का दूसरा स्वरूप आत्महत्या इत्यादि। प्रहार डर को समूल नष्ट करने की प्रक्रिया को पर्दे पर प्रस्तुत करती है अतः हमलावर के विरुद्ध खड़े होने में केवल विजयी होने की एक मात्र भावना काम नहीं करती बल्कि आतंक के विरुद्ध होने की भावना महत्वपूर्ण है । विजय सम्भावना है, उद्देश्य नहीं । उद्देश्य है आतंक के विरुद्ध सशक्त प्रतिकार तुरंत।

इसी पूर्वार्द्ध में कैमरे के कोणों, प्रकाश व्यवस्था तथा पार्श्व संगीत ने अपने-अपने उत्कृष्ट प्रयासों से बहुत ही, लगभग अतुलनीय दृश्यों की रचना की है । जब फिल्म यह बात कह रही होती है कि, डर केवल संवेदना की औंधी गिनती मात्र है । आततायी के हमले के विरुद्ध हथियार डाल देने में हार अवश्यम्भावी है जबकि सामना करने में जीत भी हो सकती है - उस समय फिल्म के सारे तकनीकी तथा कला-पक्ष एक तरह का आह्वान करते नजर आते हैं।

जब **नाना पाटेकर** का सामना रेल्वे क्रासिंग ब्रिज पर चाकूबाज जेबकतरे से होता है तो उसकी प्रतिक्रिया में नायक न तो डरता है और न जेबकतरे चाकूबाज जैसी उत्पीड़क भावना उसके चेहरे पर आती है बल्कि अपने हाथ में हमलावर की गर्दन को वह अविलम्ब-प्रतिकार के भाव से दबाए रखता है, तथा उसे समाप्त कर देता है । सामान्य मानवतावादी दृष्टिकोण से एक प्रश्न उठाया जा सकता है कि, प्रतिकार में हमलावार को मृत्यु दण्ड दे देना कितना उचित है ? वास्तव में प्रहार इस तरह के प्रश्नों के विरुद्ध शब्दजाल के माध्यम से तर्क का खेल नहीं खेलती बल्कि इन प्रश्नों के विरुद्ध कुछ प्रश्न उठाती है। जब हमलावर की क्रूरता से एक निरीह की मौत हो जाती है तथा न्याय-प्रक्रिया की कमजोरियों का लाभ उठा कर आतताई और अधिक क्रूरता में व्यस्त हो जाता है तब ये प्रश्नकर्ता कहाँ खो जाते हैं? आन्तरिक पश्चाताप व अन्तर्मन की संवेदना दिनों-दिन जब भौतिक मूल्यों के उन्नयन में खोती गई है? पीड़ित का आर्तनाद मारक के भीतर दया-करुणा उत्पन्न करने मे अक्षम हो गया है तब इस दलील का क्या करें कि मृत्युदंड मानव के अधिकार में नहीं है? जबकि पूरी व्यवस्था एक तरह के अराजक तथा

अपराधीकरण में आलिप्त हो; संवेदना पर आधारित नियमों से केवल अपराधी ही बचेंगे व सुरक्षित रहेंगे। मरेंगे तो केवल मासूम तथा असहाय व निरीह । प्रहार आतंक के दुर्ग में रखा विस्फोटक है ।

एक कार में चार गुण्डे आकार पवित्र सामाजिक सम्बन्धों को सरेआम गाली देते हैं और अनैतिक ढंग से लगभग तहस-नहस कर देते हैं और उनके सारे मनसूबे केवल एक असहाय निरीह स्त्री के विरुद्ध हैं, जिसे अपना एकाकीपन, समाज के कारण और पति की मृत्यु से उपजा होने की वजह से भोगना है। जिसके लिए वह स्वयं कहीं से अपराधी नहीं है । सामान्य आक्रमण के तर्कों के विरुद्ध भी है कि कहाँ एक अकेली निरीह अरक्षित स्त्री और कहां चार-छः मुस्टंडे-गुण्डे । इस दृश्य रचना में आंतक अपनी उत्पीड़क भावना के साथ तो उपस्थित हुआ ही है किन्तु वह प्रतिकार के लिए बाध्य करता नजर आता है । चार गुण्डों को कैमरा जिस तरह प्रस्तुत करता है तथा प्रकाश व्यवस्था उसे जिस प्रकार ठोस ढंग से उजागर करती है वह पूरे समाज के पौरुष को ललकारता नजर आता है ऐसे में नायक का उससे भिड़ जाना अतिनायकत्व प्रदर्शित करने के लिए किया गया संयोजन नही नजर आता बल्कि उसका सहज पुरुषोचित कर्म लगता है । ऐसे में हार जाना या जीत जाना युद्ध के बाद का परिणाम मात्र होता है । जीत को पूर्वनिश्चित मान कर रचा गया उत्तेजक दृश्य संयोजन नही होकर यह समाज को अपने दायित्वों के प्रति झकझोरने का प्रयास है और प्रभावशाली प्रयास है । अन्त में एक बचे गुण्डे को कार तथा दीवार के बीच रख कर नायक ने जिस तरह खत्म किया है वह शिथिल पड़े दोनों पात्रों के गतिशील मंतव्यों को गति के साथ प्रस्तुत करता है । वास्तव में इसी दृश्य ने यह स्थापित किया है कि अत्याचार व्यक्तिगत उन्माद मात्र नहीं सामाजिक बुराई है. तथा उसका प्रतिकार एक सामाजिक आवश्यकता है । कुछ अत्यन्त आदर्शवादी अवधारणाओं के लिए प्रहार एक प्रश्न चिन्ह भी है।

खुदा गवाह

खुदा गवाह से **अमिताभ बच्चन** ने अपने लिए मार्ग निदेशक अपेक्षाएँ की थीं- और यही उनके भविष्य लिए दुविधा होगी । अमिताभ बच्चन हिन्दी सिनेमा के अब तक के दौर के सबसे बड़े सितारे रहे हैं; किन्तु आगे वे क्या करने वाले हैं **खुदा गवाह** तय करेगी । कुल मिला कर यह फिल्म का पब्लिसिटी स्टंट लगता है । इस बयान से **खुदा गवाह** तथा **अमिताभ बच्चन** एक दूसरे को प्रभावित करेंगे क्योंकि बतौर फिल्म **खुदा गवाह** एक मृत फिल्म है बतौर स्टार अमिताभ की सांसें फूलती दिख रही है ।

थोड़ी देर के लिए अगर मान लें कि अमिताभ का स्वयं के भविष्य के लिए **खुदा गवाह** पर नजर रखना एक वास्तविकता है, तो फिर **खुदा गवाह** को अमिताभ के अभिनय की लय तथा उनके फिल्मी सफर पर नजर रखते हुए जाँचना पड़ेगा । इस जगह शराबी फिल्म का



जिक्र करना पड़ेगा जिसमें कुली से घायल अमिताभ ने अपने लिए खास लय तथा मैनरिज्म खोज ली थी; जिसे वे अब तक इस्तेमाल करते रहे हैं । उम्र के अहसास ने उन्हें **खुदा गवाह** को परखने वाली फिल्म के रूप में स्वीकार करवाया है, तो यह एक व्यर्थ की कसरत है क्योंकि उम्र तथा शारीरिक क्षमता के मुताबिक **खुदा गवाह** में न तो उनकी कोई भूमिका है न अपने लिए कोई परिवर्तन वाली लय वे तलाश पाये है ।

वैसे भी अमिताभ बच्चन केवल विशेष छवि वाले अभिनय के लिए **स्टार** के रूप में जाने गए अन्यथा उनके अच्छे अभिनय के लिए रेखांकित की जाने वाली फिल्मों में अभिनय तथा अमिताभ के बीच का आत्मीय एका कुछ बहुत अच्छे निर्देशकों की जिद थी । यथा **ऋषिकेश मुखर्जी, ख्वाजा अहमद अब्बास** इत्यादि। उसमें स्वयं अमिताभ की कोई विशेष रुचि नही है । अच्छे सिनेमा के लिए अमिताभ ने कोई विशेष पहल नहीं की है। स्वयं कोई उन्हें लेकर अच्छी फिल्म बना गया यह संयोग मात्र रहा है या फिर निर्माता निर्देशक की इच्छा । नायक की विद्रोही छवि को उसकी औकात से बहुत बड़ी बना कर, विश्वास दिलाना बड़ा काम था और यही बड़ा काम उन्होंने किया है। किन्तु पात्र को उसके सही आकार में जीना व प्रस्तुत करना अमिताभ के लिए आसान नहीं रहा है इसलिए पिछली तमाम फिल्मों में पात्र से बड़ा होकर उन्होने शराबी के पूर्व के अमिताभ की तलाश की पर संभव नहीं हुआ- उसे पाना । यथा **जादूगर, तूफान, अग्निपथ,** और अब **खुदा गवाह** ।

अमिताभ को लेकर फ़िल्म बनाने वाले तथा पैसा कमाने वाले प्रमुख मनमोहन देसाई, प्रकाश मेहरा, रमेश सिप्पी निर्देशकों ने दर्शक की दमित इच्छाओं के विद्रोह का फ़ायदा उठाया किन्तु घटिया से घटिया फ़िल्म का कोई न कोई सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक अथवा मनोरंजक सरोकार अवश्य रखा, पर पहले अजूबा तथा अब खुदा गवाह में इसे भी छोड़ कर केवल अमिताभ से मतलब रखा गया है । सबसे बड़ी चूक यही हुई है कि खुदा गवाह एक कथा फ़िल्म है अमिताभ पर केन्द्रित वृत्त चित्र नहीं । इसलिए दर्शक अमिताभ बच्चन का नाम देखकर खुदा गवाह देखने तो आ जायेगा पर देखेगा आखिरकार खुदा गवाह ही । खुदा गवाह के बादशाह खान को । अब यदि बादशाह खान ही कमजोर तथा उद्देश्यहीन है तो अमिताभ क्या करेंगे ?

मुख्वसर में बादशाह खान अपनी महबूबा बेनजीर के लिए एक काविल का सर कलम करने काबुल से हिन्दुस्तान आ जाते है और काविल का सर कलम करके वापस काबुल जाने लगते हैं, किन्तु एक जिम्मेदार जेलर के हाथों पकड़ लिए जाने पर अपनी महबूबा का हवाला देकर 30 दिनों में लौट आने का वादा करते हैं । जेलर तथा बादशाह दोनों वादे और जुबान को ओढ़ते बिछाते है और अच्छा भला इन्सानी जज्बा भी कोफ्त पैदा करने लगता है । खैर काबुल आकार बेनजीर से शादी करके तथा उसे मातृत्व सौंपकर वे वादा निभाने भारत आ जाते है । यहाँ कुछ दुष्ट लोगों के हाथों अच्छे लोगों के लिए आजीवन सजा काटने लगते है और अंत में सब भला होता है । भले लोग बचते है बुरे लोग मरते है । पता नहीं किस लिए पात्रों के नाम राजनैतिक लोगों से मिलते जुलते रखे गये हैं ऐसी फ़िल्मों का एक मात्र सरोकार होता है मनोरंजन । यदि यह भी नहीं है तो कोई भी अमिताभ कुछ नहीं कर सकते चाहे इसके लिए श्रीदेवियाँ ही क्यों न जाया कर दी जायें। खुदा गवाह केवल कोफ्त पैदा करती है वह भी व्यर्थ ।

लाखों के लिबास का प्रचार भी सस्ती मानसिकता वाले दर्शकों को लुभाने का बहाना है; वरना लाइट्स तथा कैमरे में इतनी तकनीकी क्षमता होती है कि दो कौड़ी के कांच लाखों के हीरे नजर आयें और सोने-चाँदी, पीतल तथा कांसे नजर आये । ऐसे में श्रीदेवी के कपड़ों तथा जेवरातों की फोटोग्राफी में असली सोने-चांदी जाँचने कौन सा जौहरी आयेगा तथा किस कसौटी पर जाँचेगा ।

समय संदर्भों से कटी तथा व्यर्थ तथा बेतुकी घटनाओं पर खड़ी पटकथा इस फ़िल्म की सबसे बड़ी कमजोरी है । संतोष-सरोज की पटकथा फ़िल्म को दृश्यों के कोलाज में रखती नजर आती है तथा सम्पादन ने उसमें अमिताभ को फ़िल्म के पर्याय के रूप में संयोजित किया है । निर्देशन में मुकुल एस.आनन्द का काम थोड़े से भाग को कथा सूत्र के रूप में फ़िल्माना भर रहा है क्योंकि पूरी फ़िल्म फ़ाइट कम्पोजर ने ही डायरेक्ट की है, ऐसा लगता है ।

अमिताभ बच्चन के अतिरिक्त श्रीदेवी, डैनी, किरण कुमार, भी है जो अपने काम सामान्य

ढंग से निभा गए हैं जो **खुदा गवाह** को कोई महत्व नहीं देते। यदि थोड़ा बहुत ध्यान खींचते है तो किरन कुमार जो **कॉमेडियन विलेन** की पैतृक विरासत को जीवन से लिए दिखते है । गीत-संगीत में बेहद बनावटीपन तथा बासीपन है जो कमजोर शब्दों तथा व्यर्थ स्वरों में खोया हुआ है । अकेली फोटोग्राफी है जो कई निर्जीव दृश्यों में जान भरती है। जवान, जोशीले, वृद्ध, असहाय , मारधाड़ से भरपूर तथा संवेदना से परिपूर्ण, हर तरह के पात्र को अभिनीत करने के लिए **खुदा गवाह** में ढूंढ-ढूंढ कर दृश्य रचना संयोजित की गई है जिससे अपने लिए मार्ग दर्शक अपेक्षाएँ जगा लेना अमिताभ के लिए ठीक ही था लेकिन फिल्म का बनने से पूर्व पूर्वानुमान तथा आकलन कर लेना भी जरूरी था । खुदा गवाह में एक ऐसा तत्व नहीं है जो खींचे । अच्छे दृश्यों को जोड़ कर ही अच्छी फिल्म नहीं बनती । मामूली दृश्यों को लयवद्ध रूप से रख कर बहुत अच्छी फिल्म बनायी जा सकती है इसके दो बहुत अच्छे उदाहरण है **शान** तथा **रजनी गंधा** । **खुदा गवाह** कुछ भी नहीं बन पायी । **अमिताभ बच्चन** से आशा की जाती है कि वे अच्छे सिनेमा के लिए स्वयं भी कोई पहल करेंगे, क्योंकि अच्छी फिल्म केवल स्टार का नाम नहीं होती ? खुदा **गवाह** एक बेकार फ़िल्म है ।

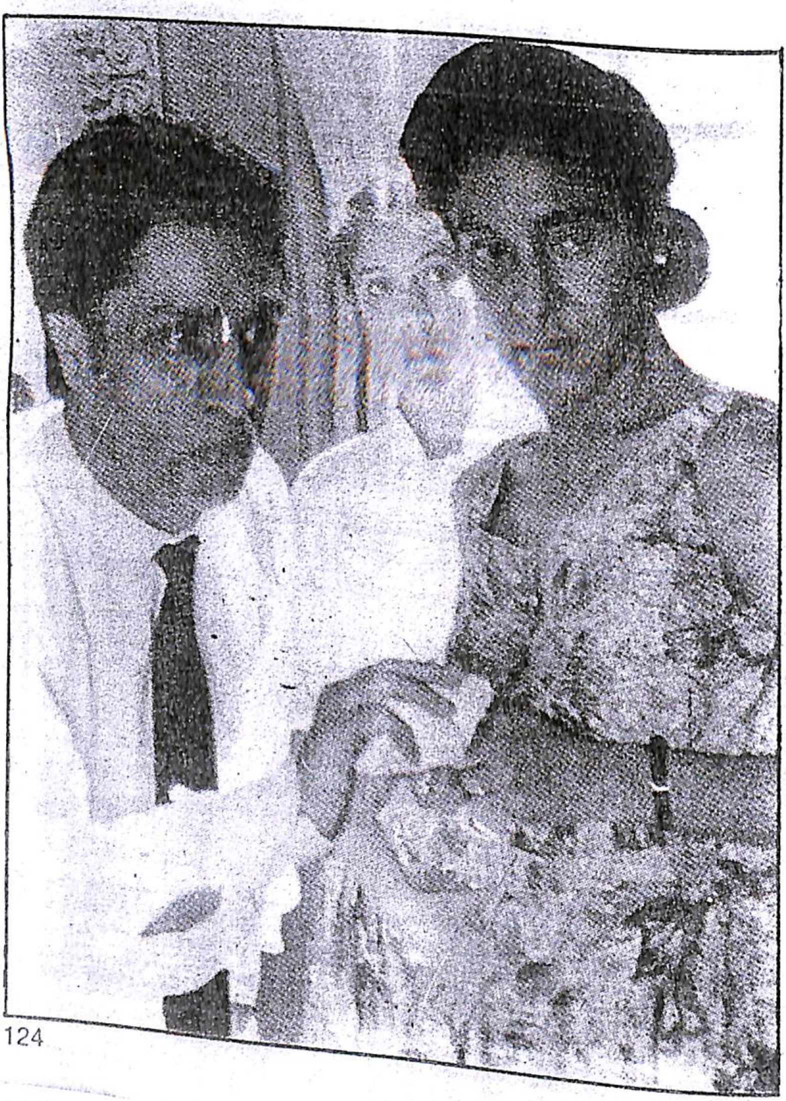
फिल्मकथा

त्रिकाल

कहानी, पटकथा एवं निर्देशन

श्याम बेनेगल

पहला भाग



फिल्मकथा

त्रिकाल

श्याम बेनेगल

ड्राइवर : ये रास्ता पुराना है। काफी पहले सभी रास्ते नये बनाये गये थे। सरकार ने काफी पैसा खर्च किया था।

(कार में) : हालांकि बचपन और जवानी यहाँ गुजरी पर अब मुझे कोई जानता भी नहीं होगा, बाप-दादा का नाम बताऊँ तो शायद —

(कार में) : एक चचा थे वे भी अब नहीं रहे।

कितने साल गुजर गये है फिर भी एक-एक बात याद है। मुझे यहाँ तो सब कुछ बदल गया है। सड़कें, बिजली, पानी भी आ गये है।

...लिक के रुपयों की मेहबानी।

...ने के खेतों के बीच सीमेन्ट के डिब्बे। जुआघर भी। कितने जमाने से गोवा से बाहर था। बम्बई सेन्ट्रल। फिर बम्बई। बाद में मर्चेन्ट मरीन में सारी दुनिया देखी। मगर अपना ...म यहाँ का है। मेरी बीवी बम्बई की है न, वो यह सब बाते कहाँ समझेगी।

...सली ?

हमारा शानदार गिरजाघर। कहते है गोवा में सबसे पुराना गिरजाघर यही है। मेरा गाँव नए दौर का जैसे फूलदान है। मगर इतने दिनों के बाद के अन्तराल में मेरा आना बड़ा अच्छा लगा। शायद अभी यहाँ कोई रहता भी नहीं होगा।

मारिया कहती थी, मुझे इस बात में ना जाने कैसे उसकी याद _

मैं खुद भी मारिया के नाना से मिला था जिन्होंने वफादारी दिखाई। मशहूर चौकीदार बागी राणे को पकड़वाया था। चौकीदार का नाम क्या था, याद नहीं आ रहा।

रूही : जॉन ?, जॉन हो न तुम।

सामने रॉबर्ट आता है।

रॉबर्ट : पैदाद ?

रूही: हाँ, पैदात मुझे नहीं पहचाना। मैं रूही हूँ। मैं अन्दर आ सकता हूँ।

ऊँची छत के रोशनदान से। छिवलती धूप थी। कुछ लोग रो रहे है। कोई मर गया है। सभी लोग पलंग के आस-पास है। सिरहाने बैठी उनकी बेटी सिल्विया रो रही है। उन्हें छू रही है। अरोरा परेशान है कि नानी इस अवसर पर गाना क्यों सुना रही है। सिल्विया यही बात अपने पति से कह रही है। सिनर, लूसियो का घरजमाई है। मारिया बेफिक्री से गाना सुनाये जा रही है जैसे उसका नहीं किसी और का पति मर गया। सिल्विया और लूसियो बेबस और हैरान है और ये खूबसूरत लड़की अनजान है। सिल्विया, लूसियो की छोटी बेटी। दो छोटे भाई भी है।

फ्रांसिस और डॉ. परेरा : ओ यस फ्रांसिस।

हमेशा की तरह घुड़साल में मेरे चाचा डॉ. परेरा। ये रही अरोरा। बड़ी मजहबी है बेचारी। फ्रांसिस जैसा आदमी इस पर लट्टू हुआ जा रहा है। उसका होने वाला मंगेतर इग्राम है। अन्ना को एक आँख नहीं भाता। अपने माँ-बाप के साथ रिश्ता करने गोवा से आया है।

अन्ना गुस्से से आऊट जाती है।

दोनों के जाते ही कैमरा रूही पर।

वह अपने पति से शिकायत करती है।

और वह मैं हूँ चौबीस साल पहले ?

ग्रिनिया रोती है।

ग्रिनिया कितनी हसीन है अब भी। देखकर पता नहीं क्यों मरे जा रहे हैं। स्वर्गीय ऐनास की नाखुश संतान है जिसे रोना भारी पड़ जाता है।

ावी कमरा) : यह रहा वे गुलावी कमरा जिसमें कुर्सी पर मारिया बैठी है। हवेली की ाकिन। सामने मारिया बैठी है। पीछे ग्रिनिया बैठी है। मारिया, ग्रिनिया को इशारा ी है और ग्रिनिया उठकर ग्रामोफोन चालू करने जाती है। उसके साथ कैमरा पेन होता

ल्विया आकर देखती है। ग्रिनिया रिकार्ड लगाती है। ग्रामोफोन चालू हो जाता है।

ल्विया : मम्मा, मम्मा (पुर्तगाली भाषा)। मामा, मामा — व्हेगोरियो जा का इस्त्या मामा इल इस्टा ए चामर नॉस साव हौयस डो फुनरल।

रया इला इस्टा इन्मो डो कोमींगो पोरक्यू डैक्शेय डी फल आर कॉम इसे हा ट्रेस डायस ग्रव्हा अ कारीर अद्वास डा फैरीन्डा अ क्कैस। मुल्वर सैम व्हरगोनहा पैल। इडाडे ुटेन पोडीया सैर टुआ फिलआ, अफवेला मुलहेर परडीडा मस नाग। उप व्हैल वो कौमौ फजेन्दों से पाखो।

ाउन्ट : देखिए वो सिल्विया कितनी खफा है। ये लोग पोर्तुगीज भाषा बोल रहे है। मगर ाप समझ ही गये होंगे कि क्या कहा जा रहा है। मारिया अपने पति की मौत का कारण ानना ही नहीं चाहती। कहती है ये सब उस छिनाल फोरिन्दा के कारण हुआ है। सिने ौर ऑनोस्त्या काफी गम्भीर हो उठे थे। मैं आपके लिए अनुवाद करूँगा।

यों हमारे किरदार ऐसी भाषा बोलें जो आप भी समझ सकें।

ापस में बातचीत चल रही है। कैमरा सिल्विया से मारिया पर आता है।

ारिया : कौन कहता है वो मर गये? जब भी मेरा जी जलाना होता है, यूं ही मरने का ाटक करता है।

सिल्विया : ओ मम्मा .... प्लीज। सब कुछ तैयार हो चुका है। फादर सुकेरा कब इन्तजार कर रहे हैं।

सिल्विया और मारिया।

मारिया : बन्द करो अपना रोना-धोना जब देखो आँसू बहाने लगती है। पता नहीं यह गन्दी आदत कहाँ से सीखी।

सिल्विया : मम्मा .....

मारिया : बच्चे भी तुम पर गये है। दहाड़े मारकर रोने लगते हैं जरा सी बात पर।

सिल्विया : मम्मा .... मम्मा सब कुछ तैयार है। मय्यत उठने वाली है। क्या कहेंगे सब लोग?

मारिया : सब के सब, सारे गाँव वाले गधे है। उन्हें जमीन में गाड़ने के लिए उतावले है ताकि जल्दी से भूल जायें कि अर्नेस्यो कौन थे।

सिल्विया उठ कर खड़ी होती है।

गुस्से से बाहर आती है।

सिल्विया : मम्मा ....मम्मा कम से कम यह बाजा तो बन्द करो। मिलीग्रिनिया बन्द करो यह शोर ....

मिलग्रिनिया ग्रामोफोन बन्द करती है। कैमरा लूसी पर।

लूसी बाहर जाती है।

मारिया : रुक क्यों गईं, चलाओ उसे ?

मिलग्रिनिया ग्रामोफोन चालू करती है। सिल्विया और लूसी अन्दर आते हैं और ऊपर जाते है। मिलग्रिनिया खड़ी होकर सुनती है। रोने की आवाज सुनकर पीछे देखती है।

सिल्विया : तुम मामा के पास रहो।

लूसी : तुम्हारे मामा का दिमाग फिर गया है। शर्म आती है उनके कृत्य पर।

सिल्विया : उनके सामने तो मुँह नहीं खुलता तुम्हारा ?

लूसी : ऐसे अवसर पर लड़ाई- झगड़ा बिलकुल ठीक नहीं है।

सिल्विया : यह क्या बाँध रखा है। बारात में जा रहा है क्या ? क्या यह भी मुझे बताना पड़ेगा, उफ ?

औरतें रोते-रोते कैमरे के समाने आती है। मिलग्रिनिया खड़ी है। वह एकदम बाहर चली जाती है। मिलग्रिनिया कैमरे के सामने से जाती है। ट्राली उसके पास जाती है। मिलग्रिनिया खड़ी होकर देखती है। फादर सुकेरा खड़े है और बाहर देखते हैं।

ट्राली शॉट। मिलग्रिनिया का क्लोजअप कैमरे से। वह ऊपर देखती है। मिलग्रिनिया बालकनी में खड़ी है। लांग शॉट। डोना मारिया आइने के सामने खड़ी है। पीछे आकाश खड़ा है। कैमरा पेन होता है।

डोना : अभी तक यह लोग शोक का इतना दिखावा क्यों करते हैं। यह रोना धोना कितना बेतुका लगता है।

सिल्विया : पुरानी आदत है मुश्किल से छूटेगी।

डोना : अब तो मंगनी की तारीख भी आगे बढ़ जायेगी। मुझे तो बड़ी चिन्ता लग रही है। पोर्तगीज फ्लाइट बंद हो जायेगी तो हम यही फँस जायेंगे। रोज कुछ नयी गड़बड़ शुरू होती है।

अन्ना रोती है। फ्रांसिस अन्दर आता है। फ्रांसिस फ्रेम के बाहर जाता है। इरास्मो पलंग में बैठता है।

इरास्मो : अन्ना मैं तुम तुम तुम_ रो मत अन्ना सब ठीक हो जायेगा। मै हूँ ना_

फ्रांसिस : आय एम सॉरी, आय एम सॉरी अन्ना_ अन्ना_ अन्ना_। अरोरा कहाँ है ?

नौकर लोग काम कर रहे हैं और कोकणी गाना गा रहा है। कैमरे के सामने से मिलग्रिनिया और दोनों बच्चे जाते हैं।

मारिया से बातचीत बंद करो। इसी छिनाल के कारण रात को पेशाब करने गये। बहुत पी रखी थी। संडास में ढेर हो गये।

सीमा : भाटकरनी को बहुत मलाल होगा, नहीं?

लूसी : भाटकरनी बोली तो थी।

रूही अन्दर जाता है। मिलग्रिनिया आती हैं। वह कपड़े निकालती है। रूही कैमरे के साथ ऊपर आता है और मिलग्रिनिया को पकड़ता है। रूही और मिलग्रिनिया का क्लोज शॉट।

मिलग्रिनिया : किसी चीज को हिलते देखा तो चला गया। बच्चे देखते है। मिलग्रिनिया रूही के हाथ से निकल जाती है। कैमरा उसके साथ पैन होता है।

फ्रांसिस : अरोरा तुम नहीं जानती इस समय उस पर क्या गुजर रही है।

अरोरा : सायबा नानी को माफ कर दो। उनके पीछे शैतान लग गये शायद।बच्चों के साथ मिलग्रिनिया अन्दर आती है। उसके साथ कैमरा पेन होता है।

फ्रांसिस : यह क्या कहती है। बुढ़ापे में लोग पगला जाते हैं।

बच्चा : मिलग्रिनिया नाना को बाग में सदा के लिये दबा देंगे?

मिलग्रिनिया: बुद्धू अगर उन्हें दबा दिया तो उनका भूत आकर रात को तुम्हें सतायेगा।

दोनों बच्चे : भू......... भू........ करेगा। भू........ भू...... करेगा। मिलग्रिनिया बच्चों के साथ अन्दर जाती है। उसके साथ कैमरा पैन होता है। बच्चे भू.. भू... चिल्लाते हुए पलंग से उछलकर अपने पिता लूसियो और सिल्विया के पास जाकर बातचीत करते हैं।

सिल्विया : उफ-

बच्चा : पापा मिलग्रिनिया कहती है कि नाना का भूत रात को जागेगा और भू- भू- करेगा।

लूसियो : चुप हो जाओ। आज तुम्हारे नाना मरे है। ऐसी बाते नहीं करते। बुरी बात है।

सिल्विया : बच्चों को रहने दो, भाभी को जाकर तैयार कराओ वरना जनाब साहब के बिना ही निकल जायेंगे।

लूसियो : बौरा गयी है। मेरा कहा सुनोगी तुम-। डॉक्टर परेरा से कहो ना किसी और की सुनती ही नहीं है मामा।

सिल्विया : मैं जाकर कहूँ उनसे।

मिलग्रिनिया और मारिया अकेले बैठी हैं। डॉक्टर परेरा आकर समझाते हैं।

डॉ. परेरा : डोना मारिया दोनों तैयार हो जाओ, अब अर्नेस्टो को ले जाने वाले हैं।

ट्राली बेक होती है। मारिया उठकर परेरा के साथ बाहर चली जाती है। कैमरा ट्राली डाउन होता हैं। फादर सुकेरा प्रे करता है। कैमरा पैन होकर डेड बाडी पर जाता है।

प्रार्थना जो मरने के बाद की जाती है .... स्पेनिश में। पोर्तृगीज जबान में प्रार्थना। पोर्तृगीज सांग। कैमरा पैन होकर आडियन्स पर जाता है। औरतें बैठी है । आदमी आते हैं।

सब लोग खड़े हैं और प्रेयर कर रहे हैं। लोग बाहर जाते हैं। मोमबत्ती निकाल रहे हैं। सामने मृत शरीर पड़ा हैं। डॉ. प्रिंस मारिया के पास जाकर समझाते हैं।

क्लोज शॉट।

डोना मारिया रो रही हैं। कैमरा पेन होता है। अन्ना और रूही पर कैमरा होल्ड होता है। अन्ना रो रही है।

रूही : अन्ना मैं तुम्हारे गम में शरीक हूँ। अर्नेस्टो बहुत अच्छे आदमी थे। जब भी मैं उन्हें सलाम करता था, वो हमेशा जवाब देते थे। अन्ना तुम्हें इस तरह रोते नहीं देख सकते। लाँग शॉट। सिल्विया खड़ी है। सिल्विया आती है। उसके पीछे मारिया, मिलग्रिनिया आती है। कैमरा बैक होता है। सर्वेन्ट को पैसे दिये जा रहे हैं।

सिल्विया: मैंने दे दिये हैं।

मारिया सर्वेन्ट को पैसे दे रही है। सर्वेन्ट पर कैमरा।

सिल्विया : बस ना मामा, मैंने दे दिये हैं।

ट्रॉली, लाँग शॉट।

लोग शव लेकर जा रहे हैं। डॉ. परेरा, मिलग्रिनिया। कैमरा मारिया और मिलग्रिनिया पर पेन होता है। टॉप एंगिल शॉट। कैमरा पेन होता हैं। लोग आ रहे हैं। लोग बॉडी लेकर जा रहे हैं।

टॉप एंगल शॉट। बॉडी उतारी जा रही है। प्रर्थना हो रही है। फादर सुकेरा पानी छिड़कते हैं।

मोमबत्ती का मिडिल शॉट। ऑफ़।

लोग खड़े है। ताबूत में मिट्टी डाल रहे हैं। जोर से हवा आती है। डॉ. परेरा रो रही है। रूही अरोरा आता है। हवा में अचानक हैट उड़ने लगता है। रूही, अन्ना को सम्हालता है। फ्रांसिस, अरोरा को पकड़ता है। इस बीच हैट उड़ जाता है। कैमरा पैन होकर लूसियो पर फोकस होता है। मिडिल शॉट ऑफ़। इस्टेमी और अविभावक। लूसियो और डॉ. परेरा। लूसियो का दांत गिरता है।



लाँग शॉट। लोग बाहर निकल रहे हैं। लूसीओ, मारिया को घर आने को कह रही है।

सिल्विया: चलो मम्मा। अब यहाँ कुछ नहीं।

लूसीयो: मम्मा हम वहुत परेशान है आपके कारण। ऐसे रहोगी तो कैसे चलेगा ?

मिडिल शॉट । मारिया - मिलग्रिनिया।

सिल्विया : चलो न मामा।

मारिया (रोते हुए) : कैसे चलूं बेटे। मेरा सब कुछ यहीं हैं।

सिल्विया : मामा, सारी रस्में पूरी हो चुकी हैं।

मारिया : बेटा मैं ऐसे-कैसे छोड़ दूं उन्हें। ऐसे लगता है कि

अर्नेस्टो का चेहरा भूल रही है तो अपना चेहरा भी याद नहीं रहेगा। यह है वही चेहरा।

मारिया: देखती थी अगर यह मिल जायेगा तो क्या बचेगा मेरे लिए। दूरी-दूरी में भी वो रिश्ता बना रहता है पर समय का रिश्ता टूट जाता है तो क्या रहता है। एक शून्य जिसको हम यादों में जिया करते हैं। बस, ओ अर्नेस्टो।

बेक मिडिल शॉट। खाना खा रहे हैं। मिलग्रिनिया, परेरा खड़े होकर बोलते हैं। मिलग्रिनिया बोलते हुए कैमरे के सामने आ जाती है।

परेरा : दोस्तों, मैं अपने स्वर्गीय दोस्त अर्नेस्टो जुवा शुसोश्चाटींग की याद में यह जाम उठाता हूँ। आपको विदेशी स्कवॉश व्हिस्ती नहीं अपनी काजू—

लाँग शॉट । एक आदमी बोलता है।

एक आदमी : अर्नेस्टो तो स्क्वाश पीते थे।

मिडिल शॉट। डॉ. परेरा खड़े हैं।

परेरा: सिनी और फिरोज सॉरी। अमर रहें और उनकी व्हिस्की भी।

फादर: डॉ. जरा सम्हलकर। ये जाम हमारे दोस्त अर्नेस्टो के नाम है जो एक अच्छे भले और रंगीन आदमी थे।

परेरा: जिनके चले जाने से एक विशेष जिन्दगी का ?

लाँग शॉट मारिया। डॉ. परेरा मारिया के पास आते हैं।

परेरा: एक भरपूर जीवन के बीद वो हमारे बीच छोड़ गये अपनी एक बीबी। एक भली बेटी सिल्विया।

सिल्विया के पास से होते हुए।

परेरा : और इसके अलावा दिलकश सन्तान। जिनमें से कुछ यहाँ मौजूद हैं।

मिडिल शॉट ग्रिनिया। डोना, मारिया, अरोरा, मिलग्रिनिया ऊपर देखती हैं और लोग हँसते

है।

लूसी गुस्से में पंखा मारती है।

सिल्विया : ऐसे नहीं करना चाहिए उन्हें।

लूसी: तुम्हारे पिता तो थे ही ऐसे। पता नहीं कहाँ-कहाँ अपनी पिछाड़ी छोड़ गये।

परेरा: अर्नेस्टो की जिन्दगी।

मारिया, अरोरा बैठी है। रूही एक कुर्सी लेकर अन्ना के पास बैठता है। मिलग्रिनिया कैमरे के सामने से जाती है।

परेरा: आराम और सुकून की मौत भी उन्हें नसीब हुई। अब एक नया दौर शुरू होने वाला है।

मिडिल शॉट। डॉ. परेरा और इनातो।

इनातो: तो क्या अब इण्डियन राज करेंगे ?

परेरा: क्यों नहीं ? हम गोवन क्या इंडियन नहीं हैं ?

इनातो: बिल्कुल नहीं, हम पोर्तुगीज के नागरिक हैं।

डॉ. परेरा ग्लास में शराब भरते हैं।

परेरा: तभी तो जनरल फेरी ने सारी फौज अफ्रीका भेज दी। गोवा की रक्षा पोर्तुगीज नहीं करेगी।

फ्रांसिस: पोर्तगीज नहीं, हमें अपनी आजादी चाहिए। स्वतन्त्र गोवा, जहां अपनी जिन्दगी, अपना कल्चर होगा। अपना सब कुछ होगा। जैसे स्विटजरलैण्ड।

परेरा: फ्रांसिस खुद नहीं जानते क्या कहते हो।

मिडिल शॉट। फादर, परेरा, आकाश।

फ्रांसिस : आपने समझा नहीं——

परेरा : वैसे गोवा छीन रहा है और किससे ?

लांग शॉट फ्रांसिस और इनातो।

फ्रांसिस: इंडियन पोर्तुगीज।

इनातो: हँसी-मजाक है। अगर पोर्तुगीज कुछ नहीं करे तो गोवा की यूनाईटेड नशे में भी आजादी का प्रस्ताव पास करेगी।

परेरा: कौन सी आजादी। अपनी शान-शौकत बनाये रखने की। बाकी दुनियादारी गयी भाड़ में।

इनातो: कब से राजनीति की भाषा बोलने लगे। कहीं हवा का रुख देखकर तो नहीं पलट

गये।

परेरा: नहीं, जैसा हूँ सब जानते हैं। राजनीति को आप चला रहे हैं। कल्चर आजादी स्विटजरलैण्ड। ये कैसा कल्चर है? इन्सान जहाँ पैदा हुआ, जवान हुआ, बस गया, वो ही उसका कल्चर है। हमारा देश एक रंग विरंगे टुकड़ों की रजाई है। इसका एक टुकड़ा है गोवा ।

मिडिल शॉट। फ्रांसिस आकर अरोरा के पास बैठता है।

फ्रांसिस: ओ- ओनीता।

सुधा सुवारिज: इतना क्यों पीते हैं?

फ्रांसिस और मारिया।

जीना: आओ मम्मा के पास बैठो।

फ्रांसिस आकर मम्मा के पास बैठता है फिर गोद में बैठ जाता है।

इरास्मो: मैं यहां बैठ सकता हूँ अरोरा।

मिडिल शॉट। अन्ना और रूही शराब पीते हैं।

रूही: अन्ना, अन्ना मैं तुम्हारे दुख में शरीक हूँ। बहुत अच्छे आदमी थे। जब भी मैं उन्हें सलाम करता था, वो हमेशा जवाब देते थे।

अन्ना उठकर चली जाती है।

मारिया: कल को कौन जानता है। इसे हम सिर्फ बीते कल से जोड़ सकते हैं। इसलिए कि जो बीत गया वो ही जिन्दा है। और वो हमें उकसाता है।

मारिया के पीछे मिलग्रिनिया खड़ी है।

मिलग्रिनिया और रूही मारिया को उठाती है। उनके साथ सिल्विया भी है। सब लोग चले जाते हैं।

मारिया : मगर तुम सबको गुजरे कल को भूलना चाहिए। इसलिए अन्जान राहों में भटक रहे हैं. अब मुझे माफ़ कीजिए। इजाजत चाहती हूँ।

किचन रूम का लाग शॉट। नौकर शराब पी रहे हैं।

नौकर: चुप। भाटकर का शोक मनाये। क्या शादी का गाना गाया है।

नौकर: मालूम हैं न गोली के स्थान में क्या देखा?

नौकर: हुँ— क्या देखा—भूत—। अं—मैंने देखा सब लोग रो रहे थे। तेज हवा चली। एकदम से कब्र के पास सिनीओ के दाँत जोर से हंस रहे थे।

सब लोग हंसते हैं।

लॉग शॉट मारिया को प्रेमिस कारकार में लाते हैं।

सिल्विया: मामा...मामा... आपसे एक बात करनी है।

ट्रालीशॉट। मारिया, सिल्विया से बात करती है। पास में मिलग्रिनिया खड़ी हैं।

सिल्विया: क्या हम साल भर शोक मनायेंगे।

मिलग्रिनिया : अन्ना की मंगनी का क्या होगा।

इरास्मो : माँ-बाप जल्दी में हैं। मामा, एक साल बहुत होता है।

मॅन्स : तुम्हारे पापा से पूछ लूं, वो क्या कहते हैं।

सिल्विया निकल जाती है। मारिया पलंग पर आकर बैठती है। कैमरा उसके साथ घूमता है। दरवाजे पर डॉ. परेरा खड़े हैं। मिलग्रिनिया निकल जाती है।

सिल्विया : ओ मम्मा ... फिर वो ... हा...

लूसी : सिल्विया फादर सुकेरा जा रहे हैं।

डॉ. परेश : डोना मारिया, अब मैं भी चलता हूँ। बोनाइथ।

मारिया : अर्नेस्टो को आज रात बुला रही हूँ। आप रुकेंगे।

परेरा : इतनी जल्दी क्या हैं ?

मारिया : ताकि वो घर का रास्ता भूल न जाये।

परेरा : अब आप सो जाइये बोनाइथ।

अरोरा आकर रोता है।

अन्ना : बोनाइथ।

दोनो बच्चे : ऑनाव्हीययु।

सुजा सुवी राज : मैं कितनी दुखी हूँ अब।

मारिया : मिलग्रिनिया दरवाजा बन्द करो।

लॉंग शाट। रूही खड़ी है। खिड़की में अन्ना कपड़े बदल रही है डांस सिंगिंग। रूही पत्थर को जमीन से निकालता है और खिड़की में फेंक देता है। अन्ना अभी भी कपड़े बदल रही है। रूही निकल जाता है। सिल्विया खिड़की में खड़ी है।

लूसी : मामा ने कमरे के सारे दरवाजे बन्द कर लिए ?

सिल्विया : हाँ ...।

लूसी दांत निकालकर ग्लास में डालता है।

लूमियो : हूँ... जरूर भूत-प्रेत बुला रही होगी। पापा की हरकत मालूम करने का यह एक तरीका है। अभी तक आदत नहीं गयी।

ट्रॉली शॉट। सिल्विया के साथ कैमरा पेन होता है।

सिल्विया : मजाक लग रहा है तुम्हें ऐसे ही करती रही वो एक दिन पता नहीं उनके दिमाग का क्या होगा ?

मिलग्रिनिया सिर में हाथ रखती है। उसके ऊपर मारिया हाथ रखती है। कैमरा पेन होकर मारिया के चेहरे पर जाता है। कैमरा उसके ऊपर पेन होता है।

मारिया : अर्नेस्टो, सुनो आओ अर्नेस्टो, मारिया बुला रही है। मेरी आवाज वहाँ तक पहुँच रही है। अर्नेस्टो मैं हूँ मारिया। सब लोग कहते हैं तुम्हें भूल जाऊं, कैसे भूल जाऊं।

मारिया : कितने ढ़ेर सारे सवाल रह गये थे तुम क्यों बीच में छोड़कर चले गये ?

मिलग्रिनिया हाँ, हूँ कर रही है।

मारिया : सिल्विया देर तक शोक नहीं मनाना चाहती।

मारिया : अन्ना को भी बड़ी फिक्र है। तुम क्या यकहते हो अर्नेस्टो। बोलते क्यों नहीं ?

मिलग्रिनिया के मुँह से आदमी की आवाज आती है।

विजय सिल्वा : कौन बुला रहा मुझे ?

मारिया : अर्नेस्टो।

विजय : मैं।

मारिया : अर्नेस्टो।

विजय सिंह राने का मिडिल शॉट।

विजय सिंह : मैं विजय सिंह राने।

मारिया : क्या कहा, कौन हो तुम ?

विजय : मैं इस घर से जुड़ गया हूँ। तुम सबसे मेरा नाता है।

मारिया : कहाँ से आये हो। जहां से आये हो वहां वापस जाओ, मुझे अपना पति चाहिए।

विजय : तुम्हारे नाना ने काट कर गवर्नर को दिया ?

विजय : याद नहीं तुझे —

विजय : याद नहीं तुम्हें ओ सिल्विया।

कॅपीताब : रिबेरो, यह किसका सर है।

सिल्विया : कुस्तोवा राने।

कॅपीताब : झूठ बोल रहे हो किसी और का सर दिखाओ। मुझे चौंका देना चाहते हो। एक हफ़्ते के अन्दर असली कुस्तोवा को पकड़कर लाओ वरना तुम्हें फाँसी की सजा मिलेगी।

विजय : चीख से इस घर की दीवारें गूंज उठीं। तहखाने का जमीन मेरे खून से लाल हो गयी थी।

मारिया : कौन राने ? कुस्तोवा ?

विजय : नहीं विजय सिंह राने _। तुम्हारे नाना ने गलती से मेरी हत्या करायी। मैं निर्दोष_

विजय : था __

मारिया : अर्नेस्टो कहाँ हैं ? तुम मिलग्रिनिया उठो। होश में आओ __ जाओ __

मारिया : मिलग्रिनिया हाथ उठाती है। कैमरा मिलग्रिनिया से पेन होता है।

मिलग्रिनिया उठकर चली जाती है।

लाँग शॉट। मारिया और लियो।

मारिया : कौन है वहाँ । जो खिड़की से बाहर देख रहा है। अर्नेस्टो ?

लाँग शॉट कैमरा पीछे खिड़की से मारिया के पास आता है।

लियो : मैं हूँ विया लियोन।

मारिया : ऐ_देवज्ञ तुम तो वहाँ थे।

लियो : भाग आया। पोर्तगीज इतनी मजबूत नहीं होता। मारिया, पानी के जहाज में छुपकर आ गया आपके पास।

लियो खिड़की से उठकर खड़ा होता है। पास आता है। कैमरा लिओ के साथ जाकर खिड़की पर ठहरता है।

मारिया : तुम्हारी माँ जिन्दा होती तो तुम्हें यूं देखकर क्या कहती बेचारी। तुम यहाँ नहीं रह सकते, गाँव के लोग चर्चा करेंगे। कोई बात छुपी नहीं रह सकती यहाँ।

लियो : बस कुछ दिनों के लिए।

मारिया : पता नहीं तुम क्या चाहती हो। आजादी, कांग्रेस।

मारिया : इसका क्या मतलब, तुम्हारे अलावा कौन है जो पोर्तगीज गोवा से निकल आया है। मुझे दिखायी दे रहा है।

लियो : आप जैसे लोग सपनों की दुनिया में जी रहे हैं। न जाने क्या सोचते रहते हैं अपनी हैसियत के बारे में।

मारिया : बस, बस तुम्हारे भाषण नहीं सुनते। लेकिन यहाँ रहोगे कहाँ ?

लियो खिड़की के पास से मारिया के पास आकर बैठता है।

लियो : उसी दरवाजे में जहाँ आपने नाना ने उस राने का बन्द किया था।

मारिया : वो तुम्हारे भी तो नाना थे।

मिलग्रिनिया आकर जाती है (फ्रेम के बाहर)।

मारिया : आओ मिलग्रिनिया, आओ_।

मिलग्रिनिया : हाँ—

मारिया लियो को देखकर चीखती है। लियो जाने लगता है। मिलग्रिनिया ओर लियो चले जाते हैं।

मारिया : सबको तहखाने ले जाओ, नहीं ठहरो। मिलग्रिनिया कसम खाओ किसी को भी नहीं बताओगी।

मारिया : खाना खाया ?

लियो : भूख नहीं है। जियो यनस्ता को सुनकर बहुत दुख हुआ।

मारिया : सोचा सयथा वो फिर लौटकर आ जायेंगे।

लियो : लेकिन वो तो आज सुबह मर गये।

मिलग्रिनिया, लियो को तहखाने लेकर जा रही है। कैमरा ट्रॉली के साथ पीछे जा रहा है। मिलग्रिनिया मोमबत्ती टेबिल के ऊपर रखती हैं। लियो फ्रेम से बाहर जाता है। लाँग शॉट। वह कपड़ा लेकर आ रहा है। कुर्सी पर बैठकर बूट निकालता है। आगे मिलग्रिनिया खड़ी है।

लियो (मिलग्रिनिया से) : तुम्हारी शादी हो गयी।

मिलग्रिनिया : नहीं।

लियो : अन्ना कहाँ है ?

मिलग्रिनिया : कहाँ होगी, वहाँ है।

लियो : कैसी है ?

मिलग्रिनिया : उसकी मंगनी होने वाली है।

लियो : मंगनी ? किससे ?

मिलग्रिनिया : वो लिस्कोवा से आये हैं। सीनियोय रितावो। दोनों अमालिया और येरास्को।

लियो : कब हुआ यह सब ?

मिलग्रिनिया : बस मंगनी हो गयी होती अगर सिनी और अर्नेस्टो के साथ यह सब नहीं होता।

लियो : हूँ।

मिलग्रिनिया : बॉनोश्त।

लियो : बॉनोश्त।

मिलग्रिनिया चली जाती है।

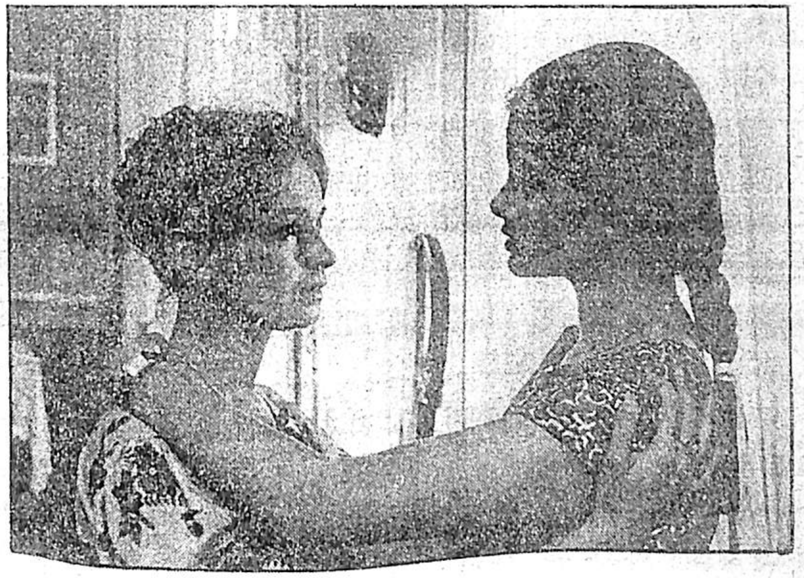
लियो सिगरेट जला रहा है। चर्च के अन्दर म्युजीशियन लोग खड़े होते है। वायिलन का म्युजिक पुनः चर्च के बाहर।

दोनों पादरी आते हैं और प्रार्थना करते हैं। चर्च प्रेयर। पोर्तगीज भाषा में आरती की आवाज आती है। दो पादरी खड़े हैं। पादरी टोपी सिर में रखता है। पेन होता है। रुही खड़ा है।

पादरी : हमारे भाई अर्नेस्टो इस दुनिया से सिधार गये।कैमरा पादरी के चेहरे पर मौत किसी को नहीं बख्शती। छोटे-बड़े किसी में अंतर नहीं रखती। पर सवाल यह है कि हम मौत का सामना कैसे करेंगे। यदि हम अपने मुक्तिदाता ईसामसीह का उदाहरण लेते हैं। सलीब और ये सुखिस्ता अंतिम क्षण की प्रेरणा लेते हैं। हमें मालूम पड़ेगा कि उस समय उनकी मानसिक और शारीरिक पीड़ा का नतीजा।

लोग चर्च में बैठे हुए हैं।

पादरी : कोरस नहीं था बल्कि एक ऐसे महान प्रेमी की भावना थी जिसमें उन्होंने पूरी मानव जाति का भला किया। हम उनके आखरी शब्दों से वाकिब हैं। ऐ मेरे पिता तुम इन्हें माफ कर दो, ये नादान हैं। जिन्दगी का मूल है परिवर्तन।



फ़ादर : आप सब जानते हैं कि इस साल गोवा की सीमा पर भारत की सेना तैनात है। किसी भी समय प्रवेश करके वह गोवा को पोर्तुगीज के शासन से मुक्त कर सकती है। आपकी असलियत के सामने जिस तरह पेश आना चाहिए वो बताना मेरा काम नहीं है मगर हम आपसे प्रार्थना करते हैं कि अपने विचार को सोच समझकर व्यक्त करें।

कैमरा पादरी की ओर।

एक चोर परदे में से देखता है।

कैमरा पहले फ़ादर फिर चोर पर फोकस होता है।

फ़ादर, चोर को बाहर निकलते देखकर चिल्लाते हैं।

मिडिल शॉट। मारिया, अन्ना, मिलग्रिनिया बैठी हुई है। चोर भाग रहा है। उसके पीछे-पीछे लोग भाग रहे हैं।

चोर .... चोर .... चोर .... पकड़ो।

चर्च से बाहर आ रहे लोग पीछा कर रहे हैं। कैमरा पेन होता है।

पकड़ो .... पकड़ो .... चोर।

चोर भागकर आता है। कैमरा उसके साथ पेन होता है।

चोर .... चोर .... पकड़ो।

चोर.... चोर ..... पकड़ो ... ।

लाँग शॉट। चोर भाग कर फ्रेम से आता है। लोग उसको पकड़ते हैं।

मिडिल शॉट। चोर को पकड़े हुए लोग और पुलिस।

लोग : मारो, मारो।

पुलिस : छोड़ दो उसको।

चोर : नहीं जाने का।

पुलिस : जाने का नहीं क्या ....?

चोर : अंगोला मत भेजो। अपने भाई लोगों को कैसे मिलूंगा।

पुलिस: आँ .... छोड़ दो।

चोर : नहीं मारूँगा ...नहीं मारूँगा ... इधर रहने दो चोर को जेल में डालो उसको।

एक आदमी : फर्नाडीस साहब कौन हैं।

मिडिल शॉट। पुलिस आउट।

पुलिस : अंगोला का है काफिर। वहाँ लड़ना नहीं चाहता अपने भाई लोगों से। चलो... ।

मिडिल शॉट। पुलिस और लोग। पुलिस चोर को पकड़ कर ले जा रही है।

पुलिस : चलो हटो।

लाँग शॉट। चर्च के लोग बाहर आते हैं। इरेस्मो और फ़ादर। इरेस्मो-फ़ादर। रूही को पकड़कर समझाता है।

डोना : फ्रांसिस कहा जा रहा है। इधर आओ....।

डॉ. परेरा : ये बेहूदापन क्या है? उसूल की बातें करो। और हो चुकी हैं।

रूही: लेकिन चाचाजी आप नहीं जानते, मैं अन्ना को कितना प्यार करता हूँ।

परेरा : तुम्हारे बाप ने तुम्हारी जिम्मेदारी मुझे दी है। कल उठते ही वापस बम्बई जाओ, मुझे यह सब पसन्द नहीं।

रूही : लेकिन, अन्ना इरेस्मो को नहीं चाहती। मेरी बात कीजिए न मारिया से।

परेरा : पढ़ाई खत्म नहीं हुई। नाम का एक ढेला नहीं और चले हैं शादी करने।

रूही : सिनी और रिनालो आपसे एक काम है।

सोनझी : तेरी आवाज का मैं हूँ दीवाना जैसे दिल मेरे तन बजे मेरी जाना।

रूही : तो मोहब्बत में क्या देर ... ।

मिडिल शॉट। बच्चे दौड़कर कैमरा से पास होते हैं। इरेस्मो और अन्ना कैमरे पर आते हैं।

इरेस्मो : अन्ना मैं जानता हूँ कि तुम मुझसे प्यार नहीं करती हो लेकिन मैं तुमसे प्यार करता हूँ। मैं तुम्हारी हर ख्वाइश पूरी करने की कोशिश करूँगा, तुम्हें बहुत अच्छी तरह रखूंगा मैं।

अन्ना, फ्रेम से ओवर होती है। इरेस्मो आउट फ्रेम होता है।

अन्ना : इरेस्मो अब मैं क्या कहूँ।

इरेस्मो : मैं बन .... जाऊँगा न .... ।

लोग अन्दर आ रहे हैं।

सिनी और रिनालो : तो ....

लूसियो : वो काला अक्षर कैसे घुस गया।

डोना मारिया : कितना भयानक था उफ्। मेरा दिल अब तक धक्-धक् कर रहा है।

सिनी और रिनालो : गोली से उड़ा देना चाहिए ऐसे काफ़िरों को। लेकिन यहाँ के पुलिस कुछ नहीं कर सकते।

डोना मारिया : कितनी गरमी है। जब भी गोवा वापस आते हैं, ऐसा लगता है गर्मी और भी बढ़ गयी है।

उनके साथ मारिया डोली में बैठकर आ रही है। कैमरा उनके ऊपर से।

सिल्विया : हाँ।

लूसी: इस बार जरा ज्यादा ही गर्मी है।

इरेस्मो चाय पी रहा है। कैमरा पेन होकर रिनालो के ऊपर होल्ड होता है।

सिनी और रिनालो: मंगनी के बारे में फिर क्या फैसला हुआ?

लूसियो : सिल्विया बैठी हुई है।



लूसियो - **सिल्विया:** लगता है मम्मा जल्दी ही कोई तारीख तय कर लेंगी। मैं आज ही जाकर उससे बात करती हूँ। यह मत समझना हम दबाव डाल रहे हैं। नहीं।

रिनालो: ऐसा कोई इरादा नहीं है मेरा, आपको मालूम है हम कब से यहाँ हैं?

डोना मारिया : आपके शोक निराधार नहीं करना चाहती हूँ मगर ....

मिलग्रिनिया : आपने मुझे बुलाया?

सिल्विया : नहीं तो ...

लूसियो : लीजिए।

मिलग्रिनिया बीच में आकर पूछती है। लूसियो उनको भगा देता है। कैमरा खाना भरी प्लेट पर। कैमरा ऊपर जाता है और मिलग्रिनिया और नौकरानी दिखायी पड़ती है।

नौकरानी: में रोज-रोज इतना सारा खाना किसके लिए ले जाती हो। भाटकानी तो चिड़िया की तरह खाती है। क्या कोई नया कुपात्र फँसाया है।

मिलग्रिनिया : ओये साहब जिन बातों से तुम्हारा वास्ता नहीं है उसमें टांग मत अड़ाओ।

नौकरानी : बड़ी आई है मुझे बताने वाली। हम सबको ये मालूम है खाना कहाँ जाता है ?

मिलग्रिनिया : अरे मालूम है तो पूछती क्यों है। और खबरदार ये बात इस घर से बाहर गयी तो . . . .

नौकरानी: तो चल तू बता दे खाने वाली ले जा।

मिलग्रिनिया : हट।

अन्ना पलंग पर बैठी है। कैमरे की तरफ देखती है। मिलग्रिनिया पास होती है। लाँग शॉट। अन्ना आ रही है। अन्ना खड़ी होती है। मिलग्रिनिया खाना लेकर जा रही है। उसके पीछे अन्ना जा रही है।

मिलग्रिनिया: अन्ना वापस जाओ। तुम कहाँ जा रही हो। वापस जाओ। अन्ना।

अन्ना : लिऑन।

मिलग्रिनिया की प्रतिक्रिया। मिडिल शॉट। लियो पीछे। मिलग्रिनिया खड़ी है लियो की प्रतिक्रिया।

मिलग्रिनिया खड़ी है।

लियो : अन्ना . . . . अन्ना . . . . तुम इतनी खूबसूरत निकल आयी हो, जरा यहाँ तो आओ।

कैमरा पेन हो होता है।

मिलग्रिनिया आती है और अन्ना को लेकर जाती है।

अन्ना : हूँ . . . . (हँसती है) ।

लियो : अन्ना . . . .।

शेष अगले अंक में :

पटकथा
सदस्यता/नवीनीकरण पत्र

प्रति ,

प्रवन्ध संचालक
मध्यप्रदेश फिल्म विकास निगम
ई-1/90 अरेरा कॉलोनी भोपाल - 16 (म. प्र.)

महोदय ,

☐ मैं पट्कथा की अंक .... से अंक .... तक सदस्यता ग्रहण करना चाहता हूँ। इसके लिए मैंने रुपये ....(शब्दों में ....) माध्यम से दिनांक .... को भेज दिये हैं। कृपया उपरोक्तानुसार अंकों के लिए मेरी सदस्यता सुनिश्चित करने का कष्ट करें।

☐ मेरी सदस्यता अंक .... से समाप्त हो गयी है। आगे अंक .... से अंक .... तक सदस्यता नियमित रखने के लिए रुपये .... (शब्दों में ....) माध्यम से दिनांक .... को भेज दिये हैं। कृपया मेरी सदस्यता जारी रखने का कष्ट करें।

भवदीय

विनाश की ओर
धकेली जा रही दुनिया को
सबसे ज्यादा जरूरत
विचार और चिन्तन की है
क्योंकि यही
इसे बचा और
बेहतर बना सकते हैं

सिनेमा के क्षेत्र में
विचारों की उत्तरदायी पहल

पटकथा

मध्यप्रदेश फिल्म विकास निगम का प्रतिष्ठा प्रकाशन
मूल्य : 20 रुपये

नई राह पर नया कदम

पंचधारा

गरीबी के सामाजिक - आर्थिक दबाव सबसे ज्यादा महसूस करती है महिलायें। इन दबावों को कम करने की नयी राह पर एक नया कदम उठा है- "पंचधारा"। मध्यप्रदेश के मुख्यमंत्री श्री सुन्दरलाल पटवा ने एक नवम्बर 1991 को इस नयी योजना का शुभारंभ किया है, जिसके अन्तर्गत गरीब तबके की महिलाओं के लिये पांच कार्यक्रमों पर अमल शुरु हो गया है।

- वात्सल्य – गर्भवती भूमिहीन श्रमिक परिवार की महिलाओं को प्रसव पूर्व सुविधाएं, टीकाकरण और पांच सौ रुपये का अनुदान।
- आयुष्मति – गांव की बीमार भूमिहीन श्रमिक परिवार की महिलाओं को मेडिकल कॉलेज से जुड़े अस्पतालों में 400 रुपये से 1000 रुपये तक की राशि, दवा और पौष्टिक आहार के लिये उपलब्ध कराई जायेगी।
- कल्पवृक्ष – अनुसूचित जनजाति की महिलाओं के लिये रेशम कृमि उत्पादन की योजना, प्रत्येक परिवार को 15 हजार रुपये की वार्षिक आमदनी।
- ग्राम्या – ग्रामीण महिलाओं को छोटे व्यवसाय के लिये कार्यशील पूंजी उपलब्ध कराने की योजना।
- सामाजिक सुरक्षा पेंशन – निराश्रितों विधवाओं को सामाजिक सुरक्षा पेंशन 60 रुपये से बढ़ाकर 100 रुपये प्रतिमाह।



शोषणमुक्त-समतायुक्त समाज की दिशा में

मध्यप्रदेश सरकार का नया कदम